

# तुलसी प्रज्ञा

सम्पादक

डा० महावीर गेलडा



जुलाई - सितम्बर '७५

जैन विश्व भारती

दुर्गा (राजस्थान)

युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में  
जैन विद्या परिषद के षष्ठ अधिवेशन का  
मुनि श्री नथमलजी उद्घाटन करने हुए।

### चन्दा की दरें

आजीवन सदस्य २०१) रु० मात्र

भारत में वार्षिक शुल्क २२) रु० मात्र

एक अंक का ६) रु० मात्र

### लेखकों से

- आपकी रचनाएं सादर आमंत्रित हैं।  
रचनाएं अंग्रेजी या हिन्दी में, टाइप  
अथवा सुलेख में, एक ओर हों।
- अस्वीकृत लेख लौटाने के लिये कृपया  
डाक टिकट साथ भेजें।
- जैन विद्या से सम्बन्धित शोधपूर्ण  
सामग्री, अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों का  
सार-संक्षेप, जैन मनीषियों का जीवन  
परिचय, लघु-लेख आदि को प्रकाशन  
में प्राथमिकता दी जायेगी। कृपया  
अन्यत्र प्रकाशित सामग्री न भेजें।
- समीक्षा के लिये प्रत्येक पुस्तक की  
दो-दो प्रतियां भिजवायें।
- 'तुलसी प्रज्ञा' त्रैमासिक है। इसका  
प्रकाशन प्रति वर्ष मार्च, जून, सित-  
म्बर तथा दिसम्बर में होता है।

### सम्पर्क सूत्र

सम्पादक 'तुलसी प्रज्ञा'

डा० महावीर राज गेलड़ा

स्नातकोत्तरीय अध्यापक, रसायन विभाग

डूंगर कॉलेज, बीकानेर

## सम्पादकीय

जैन विद्या परिषद का षष्ठ अधिवेशन युग प्रधान आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में जयपुर में १०, ११ व १२ अक्टूबर, ७५ को सम्पन्न हुआ। उपस्थित विद्वानों ने संस्तुतियां तथा सुभाष प्रस्तुत किये जो इस प्रकार हैं—

(१) जैन विश्व भारती, लाडनू ने गत वर्ष दिल्ली में आयोजित जैन विद्या परिषद के पंचम अधिवेशन के अवसर पर जैन विद्याओं के वरिष्ठ जर्मन विद्वान डा० एल० आल्सडोर्फ को उनकी साहित्य-साधना के प्रति आदर-अभिनन्दन व्यक्त करने के लिए 'जैन विद्या मनीषी' की मानद उपाधि द्वारा सम्मानित किया था। उसी शृङ्खला में यह अधिवेशन प्रस्तावित करता है कि पूर्व मनोनीत अध्यक्ष जैन विद्याओं के अप्रतिम विद्वान स्व० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये की साहित्य-साधना के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए उन्हें 'जैन विद्या मनीषी' की मरणोत्तर मानद उपाधि द्वारा सम्मानित किया जाय।

(२) यह भी संस्तुति की जाती है कि इस अधिवेशन के वर्तमान अध्यक्ष श्री श्रीचन्द रामपुरिया को उनकी साहित्यिक सेवाओं के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए 'जैन विद्या मनीषी' की मानद उपाधि द्वारा उन्हें सम्मानित किया जाय।

(३) स्व० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये की साहित्य-संस्कृति-साधना के प्रति आदर व्यक्त करने तथा भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान के लिए उनके योगदान को संकलित रूप में प्रकाशित करने के लिए जैन विश्व भारती की पत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' का एक विशेषांक डा० आ० ने० उपाध्ये विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जाय। स्व० डा० हीरालाल जैन विशेषांक भी प्रकाशित किया जाय।



(४) जैन विद्या परिषद का यह अधिवेशन इस संगोष्ठी के आयोजन के लिए आचार्यश्री तुलसीजी के प्रति आदर व्यक्त करता है तथा विश्व भारती, लाडनू के अधिकारियों की सराहना करता है। अधिवेशन में उपस्थित विद्वानों का यह अनुरोध है कि भविष्य में इस प्रकार की संगोष्ठियों का आयोजन कर इस शृङ्खला को जारी रखा जाय तथा उच्च मानदण्डों के अनुरूप संगोष्ठियों को अधिक व्यवस्थित एवं सुनियोजित करने के प्रयत्न किये जायं।

(५) प्रस्तुत संगोष्ठी का आयोजन भगवान् महावीर के जीवन तथा जैन दर्शन और विज्ञान विषयों पर किया गया था। सेमिनार में प्रस्तुत किये गये निबन्धों के आधार पर यह अधिवेशन अनुभव करता है कि भगवान् महावीर के जीवन से सम्बद्ध प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश ग्रन्थों में उपलब्ध मूल सामग्री को संकलित करके जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित किया जाय।

(६) इसी प्रकार महावीर के जीवन तथा दर्शन पर अब तक प्रकाशित साहित्य की एक अद्यावधि विस्तृत सूची ( विब-लियोग्राफी ) सेमिनार में पठित निबन्धों के साथ जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित की जाय।

(७) इसी प्रकार विज्ञान के विभिन्न विषयों पर भी विस्तृत सूची ( विबलियोग्राफी ) संगोष्ठी में पठित विज्ञान सम्बन्धी निबन्धों के साथ दूसरे खण्ड के रूप में प्रकाशित की जाय।

डा० गोकुल चन्द्र जैन, बनारस ने उपरोक्त सुझावों को विद्या परिषद के खुले अधिवेशन में रखा जिसे जैन विश्व भारती के शोध विभाग के मानद निदेशक डा० महावीर राज गेलड़ा ने स्वीकृत किया। तदनुसार स्व० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को जैन विद्या मनीषी की मरणोत्तर मानद उपाधि से सम्मानित किया। श्री श्रीचन्द जी रामपुरिया को भी जैन विद्या मनीषी की उपाधि से सम्मानित किया। इसका विधिवत आयोजन निकट भविष्य में करने का निश्चय किया गया।

तुलसी प्रज्ञा का विशेषांक स्व० डा० ए० एन० उपाध्ये तथा स्व० डा० हीरालाल जैन की स्मृति में प्रकाशित होगा। विद्वान बन्धुओं से आग्रह है कि इनके सम्बन्ध में रचनात्मक सामग्री शीघ्र भेजें।

भवदीय,

डा० महावीर राज गेलड़ा

इस अंक में

जुलाई-सितम्बर '७५

१. जैन रामायण 'पउमचरिउ' और हिन्दी रामायण 'मानस'	डा० लक्ष्मीनारायण दुबे	१-१०
२. राजस्थानी साहित्य क्षेत्र में— आचार्य श्री तुलसी का योगदान	मुनि मधुकर	११-३०
३. प्राकृत साहित्य का हिन्दी साहित्य के विकास में योगदान	डा० कुमुम पटोरिया	३१-३३
४. पउमचरिय की अंजना पवनंजय कथा तथा अभिज्ञान शाकुन्तल का तुलनात्मक अध्ययन	डा० रमेशचन्द्र जैन	३४-३६
५. रात्रि भोजन, एक मीमांसा	साध्वी मंजुला	४०-४६
6. Classification of Animals in Tholkappiyam Part I	Balkrishna K. Nayar	47-54
7. Early Jainism and Yaksha Worship	Dr. Asim Kumar Chatterjee	55-63
8. Occultations of the Moon in Jaina Astronomy	Sajjan Singh Lishk & S. D. Sharma	64-69
9. Non-naturalistic Epistemology and Metaphysical Realism : Are they compatible in Jainism	G. Sundara Ramaiah	70-76
10. Mathematical Foundations of Karma Quantum System Theory-II	L C. Jain	77-79

## टिप्पणी

११. उत्तराध्ययन के सन्दर्भ में : भदन्तजी के मुनि दुलहराज ६०-६७  
चिन्तन की मीमांसा
१२. स्व० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को श्रद्धांजलि ६६

## रिपोर्ट

१३. जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.) सम्प्रतराय भूतोड़िया (मंत्री) ६६  
का वार्षिक प्रतिवेदन
१४. विश्व मैत्री एवं विश्व शांति के महेन्द्र जैन ६६  
संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन
१५. जैन विद्या परिषद का षष्ठ अधिवेशन ... .. १००
16. Humble Tribute to the memory of Dr. G. V. Tagare 105  
Prof. Dr. A. N. Upadhye (1906-1975)
१७. लेखकगण ... .. १०६

---

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।

# जैन रामायण 'पउमचरिउ' और हिन्दी रामायण 'मानस'

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

## प्रभाव-सूत्र :

जैन रामायण 'पउम चरिउ' ( पउमचरित्र ) के रचयिता महाकवि स्वयंभू थे और हिन्दी रामायण 'राम-चरितमानस' के महान् स्रष्टा गोस्वामी तुलसीदास थे। स्वयंभू अपभ्रंश के वाल्मीकि थे तो तुलसी अवधी के। स्वयंभू के मूल स्रोत वाल्मीकि थे और तुलसी के भी वे ही थे। स्वयंभू ने जिन कवियों का गुण-गान किया था, उनमें अपभ्रंश के कवि सिर्फ चतुर्मुख हैं जिनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। चतुर्मुख का उल्लेख हरिषेण, पुष्पदंत और कनकामर ने भी किया था। तुलसी ने स्वयंभू की कहीं कोई चर्चा नहीं की है परन्तु महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है : मालूम होता है, तुलसी बाबा ने स्वयंभू-रामायण को जरूर देखा

होगा, फिर आश्चर्य है कि उन्होंने स्वयंभू की सीता की एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दी। तुलसी बाबा ने स्वयंभू-रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है। आखिर नाना पुराण, निगम, आगम और रामायण के बाद ब्राह्मणों का कौन-सा ग्रन्थ बाकी रह जाता है, जिसमें राम की कथा आयी है। 'क्वचिदन्यतोपि' से तुलसी बाबा का मतलब है, ब्राह्मणों के साहित्य से बाहर 'कहीं अन्यत्र से भी' और अन्यत्र इस जैन ग्रन्थ में रामकथा बड़े सुन्दर रूप में मौजूद है। जिस सोरों या सूकर क्षेत्र में गोस्वामी जी ने राम की कथा सुनी, उसी सोरों में जैन-घरों में स्वयंभू-

रामायण पढ़ी जाती थी। रामभक्त रामानन्दी साधु राम के पीछे जिस प्रकार पड़े थे, उससे यह बिल्कुल सम्भव है कि उन्हें जैनों के यहां इस रामायण का पता लग गया हो। यह यद्यपि गोस्वामी जी से आठ सौ बरस पहले बना था किन्तु तद्भव शब्दों के प्राचुर्य तथा लेखकों-वाचकों के जब - तब के शब्द-सुधार के कारण भी आसानी से समझ में आ सकता था। (हिन्दी काव्य-धारा)।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री (हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन, भाग १) का भी अभिमत है कि हिन्दी साहित्य के अमर कवि तुलसीदास पर स्वयंभू की 'पउम चरिउ' और 'भविसयतकहा' का अमिट प्रभाव पड़ा है। इतना सुनिश्चित है कि 'रामचरित मानस' के अनेक स्थल स्वयंभू की 'पउम चरिउ'-रामायण से अत्यधिक प्रभावित हैं तथा स्वयंभू की शैली का तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर अनुकरण किया है।

इसके विपरीत डा० उदयभानु सिंह (तुलसी-काव्य-मीमांसा) का अभिमत है कि ब्राह्मण-परम्परा में लिखित ग्रन्थ ही तुलसी-साहित्य के स्रोत हैं। कुछेक स्थलों पर बौद्ध-जैन राम - कथाओं से तुलसी-वर्णित-रामचरित का सादृश्य देख कर यह अनुमान कर लेना ठीक नहीं है कि तुलसी ने उनसे प्रभावित होकर वस्तु-ग्रहण किया है। दोनों के दृष्टिकोण में तात्विक भेद है। बौद्ध और जैन अनीश्वरवादी, वेदान्तिक एवं ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोधी हैं। इसके प्रतिकूल-तुलसीदास ईश्वर आदि के परम निष्ठावान हैं।

## जीवन-सूत्र :

स्वयंभू के समय में ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्म ही भारत के प्रधान धर्म थे। तुलसी के युग में इस्लाम का राज-नैतिक प्रभुत्व था।

स्वयंभू के जीवन-काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। राहुल जी ने उनका जीवन-काल नवम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना है जबकि डा० भायाणी ने उन्हें नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने उनका जन्म सन् ७७० बताया है। तुलसी का जीवनकाल सन् १५३२-१६२३ की कालावधि को घेरता है। 'पउम चरिउ' सन् ८५०-६० के मध्य लिखा गया था जबकि 'रामचरित मानस' सन् १५७४-१५७७ में लिखा गया था।

तुलसी की धर्मपत्नी रत्नावली के समान स्वयंभू की दो पत्नियां थीं जो कि सुशिक्षितां तथा काव्य-प्रेमी थीं। प्रथम पत्नी सामिअब्बा ने कवि को विद्या-धर काण्ड लिखने में मदद की थी। द्वितीय पत्नी आइच्चम्बा ने स्वयंभू को अयोध्याकाण्ड लिखने में सहयोग दिया था। उनके एकमेव पुत्र त्रिभुवन ने उनकी तीन कृतियों के अंतिम अंशों को पूर्ण किया था और वह स्वयंभू को 'महाकवि' कहता हुआ अपने पिता के सुकवित्व का उत्तराधिकारी घोषित करता था। उसने 'पंचमी चरिउ' ग्रन्थ को लिखा था। तुलसी उत्तर भारतवासी थे जबकि स्वयंभू दक्षिणात्य। तुलसी उत्तर भारत का अधिक वर्णन करते थे जबकि स्वयंभू दक्षिण भारत के। स्वयंभू अपने वर्णन में विन्ध्या-चल से आगे कम ही बढ़ते थे। वस्तुतः स्वयंभू विदर्भ-वामी थे।



दोनों महाकवियों की ख्याति अपने युग में फैल चुकी थी। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन ने अपने पिता को स्वयंभूदेव, कविराज, कविराज चक्रवर्तन, विद्वान्, छान्दस, चूड़ामणि आदि उपाधियों से अलंकृत किया था जिससे स्वयंभू की अपने समय में ख्याति, यश तथा सम्मान की सूचना भी हमें मिलती है। तुलसी भी अपने समय में वाल्मीकि के अवतार घोषित हो चुके थे।

### साहित्य-सूत्र :

तुलसी ने द्वादश काव्य-ग्रन्थ लिखे थे। स्वयंभू-रचित तीन ग्रन्थ 'पउम चरिउ', 'रिट्ठरौमिचरिउ' एवं स्वयंभू-छन्द' बताये जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्वयंभू को 'सिरि पंचमी' और 'सुद्धय चरिय' की रचना का भी श्रेय दिया जाता है। स्वयंभू ने सभवतः किसी व्याकरण-ग्रन्थ की भी सृष्टि की थी। जैन विद्वान् स्वयंभू को अलंकार तथा कोश-ग्रन्थ के रचयिता भी मानते हैं। स्वयंभू ने शायद कुल सात ग्रन्थ लिखे थे। सप्तम ग्रन्थ का नाम 'सिरि-पंचमी-कहा' था। उनकी 'सप्त जिव्हा' वास्तव में उनके सात ग्रन्थ थे—

गजंती ताम्ब कइमत्त कुंजरा लक्ख-  
लक्खण-बिहीगा ।

जासत्त-दीह-जीहं सयंभु-सीहण पेच्छित्ति ॥

'स्वयंभू-छन्द' का प्रकाशन सर्व प्रथम हुआ। इसमें आठ अध्याय हैं जिनमें प्रथम तीन अध्यायों में प्राकृत छंदों तथा परवर्ती पांच अध्यायों में अपभ्रंश छंदों का वर्णन है। स्वयंभू ने अपने इस ग्रन्थ से राजशेखर, हेमचन्द्र आदि को प्रभावित किया था।

स्वयंभू को अमर-शाश्वत बनाने

वाली रचनाएं 'पउम चरिउ' तथा 'रिट्ठ-रौमिचरिउ' हैं। जैन-परिपाटी में 'पद्म' श्रीराम का परिचायक है। स्वयंभू जैन रामकथा गायक विमलसूरि की परम्परा के कवि थे। उन्होंने इस कथा को अनेक अभिधानों से उद्भासिक किया था यथा पौमचरिय, रामायण पुराण, रामायण, रामएबचरिय, रामचरिय, रामायणकाव, राघवचरिय, रामकहा इत्यादि। 'पउम चरिउ' पांच काण्डों में विभाजित है जबकि 'रामचरित मानस' सप्त सोपानों में। 'पउम चरिउ' में कुल मिलाकर ६० संधियां हैं—विद्याधर काण्ड-२०; अयोध्या काण्ड-२२; सुन्दर काण्ड-१४; युद्ध काण्ड-२१ तथा उत्तर काण्ड १३ संधियां। समूचे ग्रन्थ में कुल १२६६ कडवक हैं। 'रिट्ठरौमेचरिउ' स्वयंभू का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें १८ हजार श्लोक हैं। इसमें ३ काण्ड और १२० संधियां हैं।

### मान्यता-सूत्र :

स्वयंभू और तुलसी रामकथा के सूत्र से सम्बद्ध थे। दोनों में लगभग ७५० वर्षों का अंतर था। दोनों के काव्य-सिद्धान्तों में अंतर दिखाई पड़ता है। स्वयंभू ने शाश्वत कीर्ति और अभिव्यंजना को अपना लक्ष्य स्वीकार किया था—

पुराणु अण्णणउ पायडमि रामायण काव्वे ।  
णिम्मल पुण्य पवित्त - कह - कित्तणु  
आदुप्पइ ।

जेण समाणि ज्जतेणथिर कित्तणु  
विपदुप्पइ ॥

तुलसी के काव्योद्देश्य में राम के स्तवन के साथ आत्म कल्याण तथा परहित निहित था—

एहिमहंरघुपति नाम उदारा,  
अति पावन पुरसंस्कृति सारा ।  
मंगल भवन अमंगलहारी,  
उमा सहित, जेहि जपत मुरारी ॥

स्वयंभू को राम-कथा जैन-परंपरा  
से प्राप्त हुई । भगवान्-महावीर स्वामी,  
गौतम गवधर, सुधर्मा, प्रभव, कीर्तिधर  
और आचार्य रविषेण से यह धारा उन्हें  
मिली । तुलसी को स्वयंभू शिव से प्राप्त  
हुई । स्वयंभू रविषेण को अपना मुखिया  
मानते थे—

वद्धमाण-मुह-कुहर विणिगय ।  
राम-कहा-णइएह कमागय ।।  
पच्छर इन्दमूइ-आयरिण् ।  
पुगु धम्मेण गुणालंकिण् ।।  
पुगु पह्वे संसाराराण् ।  
कित्तिहरेण अगुत्तर वाण् ।।  
पुगु रविषेणाचरिय पसाण् ।  
बुहिए अवगाहिय कइराण् ।।

स्वयंभू ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव  
की वंदना से अपना काव्यारम्भ किया है—  
णमइ णव-कमल-कोमल-मणहर-वर-बहल  
कांति-सोहिल्लं ।  
उसहस्स पाय कमलं स-सुरासुर-त्रंदियं  
सिरसा ॥

तुलसी पार्वती-शंकर के मंगला-  
चरण से 'मानस' का श्रीगणेश करते हैं—  
भवानीशंकरो वन्दे ऋद्धाविश्वास रुपिणौ ।  
याम्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः  
स्थमीश्वरम् ॥

'पउम चरिउ' तथा 'मानस' कति-  
पय कथा-सूत्र भी अवलोकनीय हैं । स्व-  
यंभू राम वनवास में सीता के वियोग में  
गज से मृग-नैनी सीता की बात पूछते हैं—

हे कुंजर कामिणि-गह-गमण ।  
कहेंकहिमि दिह जइ भिगणयण ॥

'मानस' के राम भी इसी प्रकार  
पूछते-फिरते-दिखाई देते हैं—  
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी ।  
तुम देखी सीता मृग नैनी ॥

स्वयंभू के राम नील कमलों को  
सीता के नयन समझते हैं तो कहीं अशोक  
को सीता की बांह मान बैठते हैं—  
णिय-पाडिर वेण वेयारियउ ।  
जाणइ सीयण् हवकारियउ ।  
कथइ दिट्ठइ इन्दीवरइ ।  
जणइ धण-णयणइ दीहरइ ।।  
कथइ असोय-तरु हल्लियउ ।  
जाणाइ धण-वाहा-डोल्लियउ ॥  
वरु सयलु गवेसवि सयल महि ।  
पल्लट्टु पडीवउ दासरहि ॥

तुलसी के राम की भी यही स्थिति  
है । उनको ऐसा प्रतीत होता है कि मानों  
सीता के अंग प्रत्योंगों से ईर्ष्या करने वाले  
खंजन, मृग, कुंद, कमल आदि इस समय  
प्रमुदित हैं—

खंजन सुक कपोत मृग मीना ।  
मधुप निकर कोकिला प्रवीना ।  
कुंद कली दाडिम दामिनी ।  
कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥  
बरुन पास मनोज धनुहंसा ।  
गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥  
श्रीफल कनक कदलि हरसाहीं ।  
नेकुन संक सकुच मनमाहीं ॥  
सुनु जानकी तोहि बिनु आजु ।  
हरषे सकल पाइ जनु राजु ॥

स्वयंभू ने सीता के असहाय कर्ण-  
क्रन्दन को मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है—  
हउंपावेण एण अवगण्णेवि ।

गिण्य तिह्वण्ण अ-मणूसउ मण्णो वि ॥  
 अहमहं कवण्णु रोइ कन्दन्ती ।  
 लक्खण-राम-वे विजइ हुन्ती ॥  
 हा हा दसरह माणु गुणोवहि ।  
 हा हा जणु जणय अबलोयहि ॥  
 हा अपराइएं हा हा केकइ ।  
 हा सुप्पेहें सुमिनें सुन्दर-मइ ॥  
 हा सत्तुहण भरह भरहेसर ।  
 हा भामण्णुकुल भाइ सहो यर ॥  
 हा हा पुणु विराम हा लक्खण ।  
 को सुमरमि कही कहमि अ-लक्खण ॥  
 को संघवइ मइ को सुहि कहीं दुक्कखु  
 महन्तउ ।  
 जहिं जहिं जामि हुंउत तं जि पएसु  
 पलित्तउ ॥

यही स्थिति 'मानस' में भी है—

हा जग एक वीर रघुराया ।  
 केहि अपराष विसारेहु दाया ॥  
 आरति हरन सरन सुखदायक ।  
 हा रघुकुल सरोज दिन नायक ॥  
 हा लक्ष्मिन तुम्हार नहिं दोसा ।  
 सो फलु पायउ' कीन्हेंउ रोसा ॥  
 विपति मोरि को प्रभुहि सुनावा ।  
 पुरोडास चह रासभ खावा ॥  
 सीता के विलाप सुनि भारी ।  
 भये चराचर जीव दुखारी ॥

अहिंसा मूलक जैन धर्म के अनु-  
 यायी होने के कारण स्वयंभू कहीं भी  
 आखेट का वर्णन नहीं करते परन्तु युद्ध-  
 वर्णन में उनका उल्साह अमित है और  
 उन्होंने प्रचुर युद्ध-वर्णन प्रस्तुत किये हैं ।  
 उनमें वस्तु-वर्णन तथा गणना की प्रवृत्ति  
 का आधिक्य है । वे वृक्षों के नामों की  
 लम्बी सूची प्रस्तुत करते हैं । उनकी  
 प्रवृत्ति मन्दोदरी तथा सीता के नख-शिख-

वर्णन में बड़ी रमी है । यह स्थिति  
 तुलसी की नहीं है । दोनों कवियों में  
 धार्मिक भावना की प्रधानता है । स्वयंभू  
 ने जैन धर्म के आचारात्मक तथा विचा-  
 रात्मक—दोनों पक्षों का निरूपण किया है ।  
 स्वयंभू के रामचन्द्र प्रभु जिन की स्तुति  
 करते हैं—

जय तुहं गइतुहं मइ तुहं परणु ।  
 तुहं माया-वधु तुहं बन्धु-जणु ॥  
 तुहं परम-पक्खु परमत्ति-हरु ।  
 तुहं सब्बहु परहं पराहियरु ॥  
 तुहं दंसरो णारो चरिते थिउ ।  
 तुहं सयल-सुरासुरेहिं णमिउ ॥  
 सिद्धन्ते मन्ते तुहं वायरणं ।  
 सज्झाएं सारो तुहं तव-चरणं ॥

आहन्तु वुद्धु तुहं हरि हरु वितुहं अण्णाण-  
 तमोह-रिउ ।  
 तुहं सुहुम निरंजणु परमणु तुहं रवि वम्भु  
 सयम्भु सिउ ॥

स्वयंभू का दृष्टिकोण उदार तथा  
 सहिष्णु था । उन्होंने कहीं भी ब्राह्मण  
 धर्म की निन्दा नहीं की । उन्होंने हिन्दू  
 देवताओं, अवतारों तथा भगवान् बुद्ध का  
 नाम सम्मान के साथ लिया है । उन्होंने  
 अपने धर्म का प्रचार अवश्य किया है  
 परन्तु परनिन्दा में वे नहीं पड़े ।

**नारी सूत्र :**

स्वयंभू के समस्त पात्र जैन धर्मा-  
 वलम्बी हैं । उनके समस्त नारी-पात्र  
 'जिन भक्त' हैं । तुलसी ने अपने नारी-  
 पात्रों में जिस उदात्तता के अंश को समा-  
 विष्ट किया था, उसका अभाव स्वयंभू  
 में दिखायी पड़ता है । स्वयंभू ने सुप्रभा,  
 उपरम्भा, अंजना, कल्याण, माला आदि  
 अनेक नारी-पात्रों की नूतन सृष्टि की है ।

स्वयंभू की कौशल्य 'अपराजिता' है। उसमें सिर्फ पुत्र प्रेम है। तुलसी के मातृत्व तथा मार्मिकता का उसमें अभाव है। तुलसी की कैकयी स्वयंभू की कैकयी से अधिक प्राणवान् है। 'पउम चरित' में सुमित्रा सामान्य नारी है। स्वयंभू की उपरंभा की अतीव कामासक्ति को तुलसी का मर्यादावादी कवि कभी स्वीकार नहीं करता। नारी के विषय में दोनों महाकवियों के समान विचार हैं—

अहो साहसु पभण्डि पहु मुयवि ।  
जं महिल करइतं पुरिसु णवि ।  
दुम्महिल जि भीसण जण-णयदि ।  
दुम्महिल जि असणि जगंत-यरि ॥ (स्वयंभू)  
काह न पावक जारि सके,  
का न समुद्र समाइ ।  
का न करै अवला प्रबल,  
केहि जग कालु न खाइ ॥

स्वयंभू का नारी-चित्रण स्थूल, परिपाटीगत तथा औपचारिक है। उसमें तुलसी की सी कलात्मकता तथा मनोवैज्ञानिकता नहीं है। तुलसी का रावण संयत है परन्तु स्वयंभू का रावण सीता के प्रति अपनी कामुकतापूर्ण मनोवृत्ति तथा चेष्टाओं का प्रदर्शन करता दिखायी देता है। वह चोर की भांति सीता का सौन्दर्य निहारता है और उससे श्रीराम को प्राप्त होने वाले भौतिक आनन्द की कल्पना में डूबकर ईर्ष्यालु हो जाता है। विराग प्रधान होने के कारण स्त्री-रति की बुराई से जैन धर्म भरा पड़ा है। स्वयंभू ने नारी के सौन्दर्य की नश्वरता का रूप बारम्बार उद्घाटित किया है।

### चरितकाव्य-सूत्र :

'पउम चरित' और 'मानस' दोनों

चरितकाव्य हैं। दोनों को पौराणिक शैल के महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान दिया गया है। स्वयंभू ने अपने नायक श्रीराम में मनुष्यत्व अधिक देखा है और इस दृष्टि में वे आधुनिक काल के माइकेल मधुसूदन दत्त के अधिक निकट दिखलायी देते हैं। इसके विपरीत तुलसी के राम परब्रह्म परमेस्वर हैं। स्वयंभू का कवि-हृदय रावण में जितना रमा है, उतना राम में नहीं। स्वयंभू सीता का रूप-सौन्दर्य इस प्रकार नख-शिख के रूप में उपस्थित करते हैं—

सुकइ-कह-व्व सु-सुन्धि-सुसन्धिथ ।  
सु-पय सु-वयण सु सद्द सु-वद्धिय ॥  
थिर-कलहंस-गमण गइ मंथर ।  
किस मज्झारे शियम्बे सु-वित्थर ॥  
रोमावलि मयरहसत्तिणी ।  
रां पिम्पिलि रिच्छोलि विलिणी ॥  
अहिणव-हुँड, पिड-पील-त्थण ।  
रां मयगल उर-खंभ णिमुं भण ॥  
रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ ।  
रां माणस-सरे वियसिउ पंकउ ॥  
सु-ललिय-लोलण ललिया-पसण्णह ।  
रां वरइत्ता मिलिय वर-कण्णहं ॥  
घोलइ मुट्ठिहि वेणि महाइणि ।  
चंदन-तयहि ललइ रां णाइणि ।

सीता के स्तनों का वर्णन करने वाले स्वयंभू तुलसी की मर्यादाशीलता तथा सीता के जगज्जननी रूप के समक्ष ठहर नहीं पाते हैं। तुलसी का सौन्दर्य-वर्णन आंतरिक तथा सात्विक है—  
सुन्दरता कहं सुन्दर करई ।  
छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ।  
सब उपमा कवि रहे जुठारी ।  
केहि पटतरौ विदेह कुमारी ।

और

सिय वरनिअउ तेइ उपमा देई ।  
कुंकवि कहाइ अजसु को लेई ।  
जं पटतरिय तीय सण सीया ।  
जग असि जुवति कहां कमनीया ।  
जं छवि सुधा पयोनिधि होई ।  
परम रूपमय कच्छपु सोई ।  
सोभा रजु मंदरु सिगाऊ ।  
मपै पानि पंकज निजमारु ।  
एहिविधि उअजं लच्छि तव सुन्दरता मुख-  
मूल ।  
तदपि संकोच समेत कवि कर्हिह सीय  
समतूल ॥

स्वयंभू की दृष्टि बाह्य और लौकिक थी परन्तु तुलसी की आंतरिक तथा आध्यात्मिक ।

स्वयंभू में तुलसी के समक्ष सामा-जिकता तथा समाज-अनुशासन का अभाव है । 'पउम चरिउ' में विभीषण जनक और दशरथ को मरवाने का असफल प्रयास करता है । भामण्डल अपनी भगिनी सीता पर कामासक्त हो जाता है । रावण सीता को वायुयान में बिठा कर लंका घुमाता है । ये सब स्वयंभू की आश्चर्यजनक उद्भावनाएं हैं जो रामकथा के पारस्परिक तथा पवित्र रूप के साथ मेल नहीं खाती ।

स्वयंभू ने रावण को दशमुखी राक्षस न मान कर विद्याधर वंशी माना है । उनके सभी पात्र जन्मतः जैन मता-नुयायी हैं । स्वयंभू के लक्ष्मण रावण का वध करते हैं क्योंकि वे वासुदेव हैं । स्वयंभू ने रामकथा-साहित्य के श्रु गारी रूप का मार्ग प्रशस्त किया था । तुलसी ने रामकथा को घर-घर में गुंजायमान

कर दिया और उसके शाश्वत आदर्शों से जनता प्रेरणा पाने लगी । स्वयंभू राज्या-श्रित कवि थे परन्तु तुलसी अपने चार चनों में ही मस्त रहे और किसी राजा की परवाह नहीं की । संरचना के दृष्टिकोण से स्वयंभू तुलसी को प्रभावित करते हैं । स्वयंभू में रसात्मकता मिलती है तो तुलसी में रमणीयता ।

**प्रतिबिम्ब सूत्र :**

तुलसी ने महर्षि वाल्मीकि (रामा-यण) तथा वेदव्यास (महाभारत) की तो वन्दना की है परन्तु स्वयंभू का कहीं नाम नहीं लिया—

सीताराम-गुण ग्राम पुण्यारण्य-विहारणौ ।  
वन्दे विशुद्ध विज्ञानी कवीश्वर कपीश्वरौ  
(वाल्मीकि) ।

और

व्यास आदि कवि पुंगन नाना ।  
जिन सादर हरि सृजस बखाना ॥

तुलसी के समान स्वयंभू ने भी अपने पूर्वज कवियों का ऋण स्वीकार किया है । तुलसी ने बिना किसी का नाम लिए प्राकृत-कवियों का स्तवन किया है—

जे प्राकृत कवि परम सयाने ।  
भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने ॥

डा० जम्भूनाथसिंह (हिन्दी महा-काव्य का स्वरूप-विकास) ने इस प्रसंग में लिखा है कि यहां प्राकृत कवि का अभिप्राय प्राकृत और अपभ्रंश में राम-कथा लिखने वाले विमल सूरि, स्वयंभू, पुष्पदंत आदि कवियों से है । रामचरित मानस की भाषा और शैली पर स्वयंभू का प्रभाव तो स्पष्ट दिखाई देता है ।

तुलसी ने 'मानस' की समाप्ति की पुष्पिका में लिखा है—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सूकविना श्रीशम्भुना  
 दुर्गम् ।  
 श्रीमद्राणपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु  
 रामायणम् ।  
 मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं सान्तस्तमः  
 शान्तये ।  
 भाषाबद्धमिदंचकार तुलसीदासस्तथा मान-  
 सम् ॥

कतिपय टीकाकारों ने 'कृतं सूक-  
 विना श्रीशम्भुना' से संकेतार्थ निकाला है  
 कि सुकवि स्वयंभू ने पहले जिस दुर्गम्  
 रामायण की सृष्टि की थी, उसी को  
 तुलसी ने 'मानस' के रूप में भाषाबद्ध  
 कर दिया ।

डा० संकटा प्रसाद उपाध्याय (कवि  
 स्वयंभू) की भी सम्मति है कि स्वयंभू ने  
 तुलसी को प्रभावित किया था परन्तु वे  
 धार्मिक बाधा के कारण स्वयंभू का  
 नामोल्लेख नहीं कर सके । तुलसी वर्णा-  
 श्रम-विरोधी किसी अन्य धर्म अथवा  
 उसके उन्नायक कवि का नाम नहीं लेना  
 चाहते थे ।

स्वयंभू-रामायण तथा तुलसी मानस  
 में अनेक स्थलों में साम्य दिखायी पड़ता  
 है । स्वयंभू ने अपने काव्य-सरिता वाले  
 रूपक में लिखा है कि अक्षर-व्यास के  
 जल-समूह से मनोहर, सुन्दर अलंकार  
 तथा छंद रूप मछलियों से आपूर्ण और  
 लम्बे समास रूपी प्रवाह से अंकित हैं ।  
 यह संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से  
 शोभित देशी भाषा रूपी दो कलों से  
 उज्ज्वल है । इसमें कहीं-कहीं घन शब्द  
 रूपी, शिलातल है । कहीं-कहीं यह अनेक  
 अर्थ रूपी तरंगों से अस्त-व्यस्त सी हो  
 गई है । यह शताधिक आश्वास रूपी

तीर्थों से सम्मानित है—  
 अक्खर-बास-जलोह मणोहर ।  
 सु-अलंकार छन्द मच्छोहर ॥  
 दीह समास पवाहावंकिय ।  
 सक्कय-पायष-पुलिणा लंकिय ॥  
 देसी-भासा-उभय-तडुज्जल ।  
 कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ॥  
 अत्थ-वहल-कल्लोलाणिट्टिय ।  
 आसासय-सम-तूह-परिट्टिय ॥

तुलसी का काव्य-सरोवर-रूपक इस  
 प्रकार है—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना ।  
 ग्यान नयन निरखत मन माना ॥  
 रघुपति महिमा अगुन अबाधा ।  
 वरनव सोइ वर बारि अगाधा ॥  
 राम सीय जस सलिल सुधासम ।  
 उपमा बीचि विलास मनोरम ॥  
 पुरइन सघन चारु चौपाई ।  
 जुगुति मंजु मनि सीय सुहाई ॥  
 छन्द सोरठा सुन्दर दोहा ।  
 सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥  
 अरथ अनूप सुभाव सुभासा ।  
 सोइ पराग मकरन्द सुबासा ॥  
 सुकृत पूज मंजुल अलि माला ।  
 ग्यान विराग विचार मराला ॥  
 धुनि अवरेब कवित गुन जाती ।  
 मीन मनोहर जे बहु भांती ।  
 अरघ धरम कामदिक चारी ।  
 कहब ज्ञान विज्ञान विचारी ॥  
 नवरस जप तप जोग विरागा ।  
 ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥

'पउम चरिउ' में राम-कथा का  
 श्रीगणेश श्रेणिक की शंका से होता है ।  
 परमेसर पर-सासरोहि सुव्वइ विवरेरी ।  
 कहें जिण-सासरो केम थिय कह राघव-केरी

वह आगे व्यंग्य करता है—  
जइ राम हों तिहुअणु उवरें माइ ।  
तो रावणु कर्हि तिय लेवि जाइ ।

‘मानस’ में भी पार्वती शंका करती है—

जो नृप तनय त ब्रह्म किमि,  
नारि-विरह मति भोरि ।  
देखि चरित महिमा सुनत,  
भ्रमति बुद्धि अति भोरि ॥

भरद्वाज की जिज्ञासा भी इसी प्रकार है—

प्रभु सोइ राम कि अमर कोउ जाहि जपत  
त्रिपुरारि ।  
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु विवेक  
विचारि ॥

‘पउम चरिउ’ में श्रेणिक की शंका के निवारण हेतु गणधर गौतम राम-कथा का उद्भव इस प्रकार निरूपित करते हैं—

बद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय ।  
राम-कहा णइ एह कमागय ।

× × ×

एहराम कह सरि सोहन्ती ।  
गणहर देव हि दिट्ठ वहन्ती ॥  
पच्छइ इन्दभुइ आयरिए ।  
पुण थम्मेण गुणालंकरिए ॥  
पुणु पहवे संसारा राए ।  
कित्ति हरेण अणुत्तर वाए ॥  
पुणु रविषेणायरिय पसाए ।  
बुद्धिए अवगाहिय कहराए ॥

‘मानस’ में राम-कथा की यह परि-  
पाटी निरूपित है—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा ।  
बहुरि कृपा करि उर्मर्हि सुनावा ॥

तुलसी प्रज्ञा-३

सोइ सिव कागभुमुडिर्हि दीन्हा ।  
राम-भगति अधिकारी चीन्हा ॥  
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा ।  
तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥  
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर  
खेत ।  
समुभी नहि तसि बालपन तब अति रहेउ  
अचेत ॥

स्वयंभू के आत्म निवेदन और तुलसी के आत्म निवेदन में काफी भाव-सादृश्य है। ‘पउम चरिउ’ में स्वयंभू कहते हैं—

बुह-यण सयंभु पइ विण्णवइ ।  
महु सरिसउ अण्ण णहि कुमइ ॥  
वायरणु कयाइ ण जाणि यउ ।  
णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ ॥  
णा णिसुणिउ पंच महाय कब्बु ।  
णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सब्बु ॥  
णउ बुज्झिउ पिगल-पच्छार ।  
णउ भामह-दंडीय लंकाऊ ॥

वे वे साय तो वि णउ परिहरपि ।  
वरि रयडा वुत्तु कब्बु करमि ॥  
सामाज भास छुड मा विहडउ ।  
छुडु आगम-जुत्ति किपि धडउ ॥  
छुडु होति सु हासिय-वयणाइ ।  
गामेल्ल-भास परिहरणाइ ॥  
एहु सज्जण लोयहु किउ विणउ ।  
ज अबुहु पदरिसिउ अप्पणउ ॥  
जं एववि रसाइ कोवि खलु ।  
तहो हत्थुत्थल्लिड लेउ छलु ॥  
पिसुणों कि अब्भत्थिएण, जसु कोवि ण  
रुच्यइ ।

कि छण-इन्दु मरुगहे, ण कंपंतु विमुच्यइ ॥

तुलसी ने भी अपनी लघुता प्रद-  
शित की है—

निज बुधि बल भरोस मोहि नाही ।  
ताते विनय करुं सब पाहीं ॥  
करन चहुं रघुपति गुनगाहा ।  
लघुमति मोरि चरित अवगाहा ॥  
सूझ न एकउ अंग उपाऊ ।  
मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥  
मति अति नीच ऊंचि हचि आछो ।  
चह्निअ अभिअ जग जुरइ न छाछो ॥  
छमिहहि सज्जन मोरि डिठाई ।  
सुनि हहि बालवचन मन लाई ॥  
जौ बालक कह तोतरि बाता ।  
सुनिहि मुदित मन पितु अरु माता ॥  
हंसहहि कूर कुटिल कुविचारी ।  
जे पर दूषन भूषन धारी ॥

× ×

भाव भेद रस भेद अपारा ।  
कवित दोष गुन विविध प्रकारा ॥  
कवित विवेक एक नहि मोरे ।  
सत्य कहउं लिखि कागद कोरे ॥

‘भविसयत्त कहा’ की निम्न पंक्तियों  
में भी बड़ी समानता है—

सुणिमित्रइं जाअइं तामु ताम ।  
गय पथहिणंति उड्डेवि साम ॥  
वायगि सुत्ति सहसहइ वाउ ।  
पिय मेलखइ कुलकुलइ काउ ॥  
वामउ किलकिचिउ लावएण ।  
दाहिणउ अंग दरिसिउ मएण ॥  
दाहिणउ लोयणु फंदइ सवाहु ।  
एणं भणइ एण मणेण जाहु ॥

तुलसी ने भी इसी भाव की सम्पु-  
ष्टि की है—

दाहिन काग सुखेत सुहावा ।  
नकुल दरस सब काहुन पावा ॥

सानुकूल वह त्रिविध बयारी ।  
सघट सबाल भाव नर नारी ॥  
लोवा फिरि-फिरि दरस दिखावा ।  
सुरभी सन्मुख शिशुहि पिआवा ॥  
मृगमाला दाहिन दिशि आई ।  
मंगल गन जनु दोन्ह दिखाई ॥

निष्कर्ष सूत्र :

‘पउम चरिउ’ जैन संस्कृति से ओत-  
प्रोत राम-काव्य है। उसने ‘मानस’ को  
यत्र-तत्र प्रभावित किया है। स्वयंभू  
ओज के कवि थे। उनकी सबसे बड़ी देन  
सीता का चरित्र-चित्रण है। तुलसी ने  
समूचे भारतीय मानस को प्रभावित किया  
है। वे अपने कृतित्व तथा साहित्य-स्रोतों  
के विषय में बड़े ईमानदार थे। हिन्दी  
का युग आते-आते उनका कोई नामलेवा  
नहीं रह गया था। किसी ने उनका स्तवन  
नहीं किया। इसका कारण था कि हिन्दी  
में आभार-प्रदर्शन की परिपाटी समाप्त  
हो गयी थी। इसके एकमेव अपवाद  
महाकवि गोस्वामी तुलसीदास थे जिन्होंने  
अपने पूर्व प्रमुख कवियों का तर्पण किया  
है। अन्य किसी कवि ने अपने पूर्ववर्ती  
कवियों का स्मरण नहीं किया। राष्ट्र-  
कवि मैथिलीशरण गुप्त ने ‘साकेत’ में  
राम-काव्य के गायकों तथा पुरस्कृताओं  
का सादर नामोल्लेख किया है।

‘पउम चरिउ’ और रामचरित-  
मानस’ भारतीय साहित्य की दो अनूठी,  
अप्रतिम तथा प्रौढ़ उपलब्धियाँ हैं जिन्होंने  
रामकथा तथा राम-काव्य को युगांतर  
प्रदान किया है।

□ □



# राजस्थानी साहित्य क्षेत्र में- आचार्यश्री तुलसी का योगदान

मुनि मधुकर

वे मेरे बचपन के दिन थे। उस समय साहित्य के मर्म को पहचानना मेरी बुद्धि-सीमा से परे था। बहुत से शब्दों का तो मैं अर्थ भी नहीं समझता था फिर भी ब्रह्म मूर्च्छा के सुहावने समय में अपने अग्रज के सुरीले कण्ठों से निःसृत संगीतमय पद्यों को सुनकर मैं झूम उठता था और उनके साथ-साथ तन्मय होकर संगीत-सरिता में डुबकियां लेने लगता था। उन पद्यों का शब्द चयन ही कुछ इस ढंग का था कि वे अनायास ही मुझे कंठस्थ से हो गये थे और उन्हें अब भी अपनी स्मृति में संजोये हुए हूँ—

“भाद्रव शुक्ल तीज दिन मुझने भिक्षुगण  
सिरताज।

बिन्दु नो सिंधु कर थाप्यो आप्यो पद  
युवराज॥

गुण गंभीर घोर घरणी सम, निर्मल गंग  
समीर।  
भंजन भीर वीर सम करणी, तरणी  
तारण तीर॥  
अमृत भरणी शिव-निःसरणी, करणी  
करण सप्रेम।  
वाणी भ्रम-हरणी तमु महिमा, वरणी  
जावे केम॥”

ये पद्य तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगण के स्वर्गारोहण के प्रसंग पर उनकी पुण्य स्मृति में लिखी गई एक ढाळ ‘भजिये निशदिन कालूगणिएद’ के हैं।.....बस इन्हीं पद्यों के माध्यम से आचार्यश्री तुलसी के साहित्य से मेरा परिचय प्रारम्भ होता है।

संयोग की बात है विक्रम संवत्  
२००० में आचार्यश्री का पावन-प्रवास

मेरी जन्मभूमि गंगाशहर में था। उन दिनों 'कालू यशो विलास' का रचना-क्रम बड़ी तीव्र गति से चल रहा था, लोगों की उत्कण्ठा को ध्यान में रखते हुए प्रातःकालीन प्रवचन में उसका वाचन प्रारम्भ हुआ। उसके सरस और सरीले पद्यों को जब आचार्यश्री अपने रसीले स्वरों से गाते तब ऐसा समां बंधता कि सहस्रों श्रोताओं की हृदयतंत्री ऋकृत-सी हो उठती थी। अब भी 'कंसूबे' गीत की धुन में गाये गये पद्यों की अव्यक्त ध्वनि मेरे कानों में गुंज-सी रही है—

“निकट निकट बहू शहर सुरंगा, इकरंगा  
जिहू देशी रे ।  
बेलू-पर्वत पर्वत-सवया, प्रवया परिणत  
वेशी रे ॥  
रयणीये रेणु करणां शशि-किरणां, चलकै  
जाणक चांदी रे ।  
मन हरणी धरणी यदि न हुवै, अति  
आतप अरु आंधी रे ॥  
सहज सरल श्रद्धालु हृद हृदयालु जन  
जिहां वासी रे ।  
बहु परिवार अपार धान्य-घन, मुनिसेवा  
अभिलाषी रे ॥  
एहवी रचना जिहां कहो किम, तसु नाम  
मरुस्थल साधु रे ।  
स्वर्ण स्थल भल भावे भाखत, नहीं कोई  
जात नो बाधु रे ॥”<sup>२</sup>

प्रस्तुत पद्यों में प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ मरुस्थल को स्वर्ण-स्थल के रूप में अंकित करने वाले सजीव प्रमाणों को पढ़कर कौनसा पाठक आश्चर्यान्वित नहीं होगा ?

इस प्रकार मुझे प्रारम्भ से ही आचार्यश्री की रचनाओं को सुनने, पढ़ने

और लिखने की अभिरुचि रही है, पर साहित्यिक दृष्टि से मैंने उन्हें तब पढ़ा जब श्री ब्रजनारायण पुरोहित पी-एच.डी. उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध लिखते समय तेरापंथ के हिन्दी और राजस्थानी साहित्य का अनुशीलन कर रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री के साहित्य का परिचय तथा मार्मिक स्थलों और पद्यों का संकलन मांगा था उसी सिलसिले में सैंकड़ों पद्यों की सूची तैयार हो गई और वह अब भी मेरे पास सुरक्षित है।

गुण-प्रधान 'आचार्य श्री तुलसी' एक बृहद् धर्म संघ के संचालक हैं, उन्हें नेतृत्व के नाते सघीय बहुमुखी प्रवृत्तियों से अत्यधिक सम्बन्धित रहना पड़ता है, इसलिए व्यवस्थित रूप से अवकाश निकालने में कितनी दुविधा होती है इसे आपने सन्निकट रहने वाला ही जान सकता है।

साहित्य सृजन के लिए एकान्त और नीरव वातावरण की अपेक्षा रहती है किन्तु आपकी यह विरल विशेषता है कि जन-संकुल स्थानों में भी एकाग्र होकर लिख सकते हैं, अन्यथा साहित्य जगत को इतनी रचनाएं शायद नहीं मिल पातीं।

आचार्य श्री की कृतियां मुख्यतः तीन भाषाओं—संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी—में हैं। कई कृतियों का तो विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में—राजस्थानी भाषा से सम्बन्धित साहित्य पर ही विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

राजस्थानी आचार्य श्री की मातृभाषा है। मातृभाषा के प्रति ममत्व या यों कहें कि तत्कालीन आसपास की परिस्थितियां ही कुछ ऐसी थीं कि सर्व प्रथम

साहित्य क्षेत्र में उसी के माध्यम से आपका पदन्यास होता है।

दीक्षित होने के दो वर्ष बाद जबकि आपकी अवस्था लगभग १३ वर्ष की थी, कवित्त और छंद बनाने प्रारम्भ कर दिये थे। धीरे-धीरे यह क्रम आगे बढ़ता गया और आज विपुल मात्रा में अनेक विधाओं में आपका साहित्य हमारे सामने विद्यमान है। वर्गीकरण के रूप में उसे सात भागों में बांटा जा सकता है:—

१. जीवन चरित्र
२. आख्यान
३. शिक्षा
४. यात्रा
५. श्रद्धांजलि
६. पत्र
७. स्फुट

## १. जीवन चरित्र

इस वर्ग में पांच ग्रंथों को लिया जा सकता है।

(१) कालूयशोविलास—आचार्य श्री की काव्यकृतियों में ग्रंथाग्र की दृष्टि से सबसे बृहत्काय और अपने ढंग का एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। इसके चरित नायक हैं—स्वनामधन्य तेरापंथ के अष्टमाचार्य स्वर्गीय श्री कालूगणि। उनका जीवन विविध विशेषताओं का संगम था। आचार्य श्री ने उन विरल विशेषताओं को अत्यन्त निकटता और सूक्ष्मता से आत्मसात् किया है। इसलिए अपनी काव्यमयी भाषा में जन-जन तक पहुँचाने में सफल सिद्ध हुए हैं। काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ राजस्थानी है पर कहीं-कहीं प्रसंगानुसार गुजराती, हिन्दी, उर्दू, प्राकृत और अंग्रेजी भाषा के शब्दों

का भी छुटपुट प्रयोग हुआ है जो कि आपके समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

काव्य की शैली और रचना-पद्धति एक विशेष प्रकार का ओज और प्रवाह लिये चलती है जो कि पाठकों को अपने साथ बहा ले जाती है। रूपक, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों के पग-पग पर दर्शन होते हैं। वक्रोक्ति, यमक, श्लेष आदि के भी अनेक उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं ऋतु-वर्णन और प्रकृति-चित्रण इतना स्वाभाविक हुआ है कि देखते ही बनता है—उदाहरण के रूप में उपस्थित है ग्रीष्म ऋतु का हृदय-दाहक वर्णन—  
“ज्येष्ठ महीनों हो ऋतु गरमी नो मध्यम सीनों हो हिवँ हठ भीनो। लूहर भाला हो अति विकरालां, बन्हि ज्वाला हो जिम चौफालां। भू थई भट्टी हो तरवी तापे, रेणु कट्टी हो तनु संतापे। अजिन रू अट्टी हो मट्टी व्यापे, अति दुरघट्टी हो घट्टी मापे। स्वेद निभरणां हो रू-रूं भारै, चौवर कर नां हो लुह-लुह हारै। अंगे उघड़ै हो फुरासी फोड़ा, भूँ पै उघड़ै हो जिम भूँफोड़ा।”<sup>3</sup>

ग्रीष्म ऋतु अपनी चरम सीमा पर है, विकराल लूयें यों चल रही हैं मानो उछलती हुई अग्नि की ज्वाला हो। सूर्य के प्रचण्ड ताप से भूमि भड़-भूँजे की भट्टी सी बन गई है। आंधियों के कारण शरीर पर पड़ने वाली मिट्टी चमड़ी और अस्थि आदि प्रत्येक अंग पर अपना अधिकार जमा कर आतंकित कर रही है। पसीना यूँ चू रहा है मानो कोई भरना बह रहा हो, उसे रूमाल से

पोंछते-पोंछते हाथ हैरान हो गये हैं ।  
 लोगों के शरीर पर फुंसी-फोड़े उभर रहे  
 हैं मानो जमीन पर जगह-जगह भू-फोड़े  
 उभर आये हों । कितना सीधा और  
 मार्मिक वर्णन है ।

ग्रीष्म ऋतु भयानक है तो शीत  
 ऋतु क्या उससे कम है ? आइये अब  
 निम्नलिखित पंक्तियों से शीत ऋतु में  
 प्रवेश करें—

“थरथर कांपे सारो तन दिन भर नहीं  
 आळसड़ो जावै ।  
 सिरखां-सोड़ां में भी सी-सी करतां नींदइली  
 उड़ ज्यावै ॥  
 जदि हाथ रहै गाभां बाहर मिनटां में  
 बरगज्या ठाकर सो ।  
 हा-हा बो के करतो होसी मुख निकल  
 पड़े रव साकर सो ॥  
 हाथां-पैरां में व्याऊड़ी फाटै जिम पर्वत  
 खोगाळा ॥  
 कालूँटो चेहरो पड़ ज्यावै जळ ज्यावै  
 चमड़ी सियाळां ॥  
 बेळू टीलां री बा धरती पग धरत पराया  
 सा पड़सी ।  
 भरती आंख्यां, भरती नाकां कर शाखा  
 करडी कंकरसी ॥  
 जब शिमलै खानी बरफ पड़ै थळियां में  
 ठण्डी बाळ चळै ।  
 जाडा गाभां स्यूँ जड़यँ अंग मां स्यूँ खट  
 आरोपार खळै ॥  
 ठण्डो जळ पड़यो गडो सो ह्वै पीतां  
 काळेजां डीक उठै ।  
 दांतां-जाडां जदि ददं हुवै सहसा मुखइँ  
 स्यूँ चीख उठै ॥  
 भीणी-भीणी निशि ओस पड़ै भांभरकै  
 जम ज्यावै जंगल ।

जंगल जा हाथ उजळ करतां जाइँ स्यूँ  
 बर्फ हुवै जम जळ ॥  
 घोरां-घोरां में घोळा सा चांदी का  
 जाणक बर्ग बिछै ।  
 जम जाय जलाशय भी सतीर कितनी  
 मुन्दर तस्वीर खिचै ॥  
 है खबर अगर दाहो पड़ज्या ल्यो पहल  
 आकड़ां री बारी ।  
 जळ ज्या बिन आग लपट्टां कै बेचारां री  
 भारी ख्यारी ॥  
 सूखा लक्कड़ जळ खाक हुवै लखदाद पड़ै  
 लक्कड़ाहो ।  
 एहड़ै जाइँ की जोखिम में जाखेड़ा केवल  
 लै लाहो ॥  
 जब मौसम पोवट-मावट री बो बिना  
 बगत रो मेहड़लो ।  
 डटकारचां डांफरड़ी बाजै धुंवरली तजै  
 ने नेहड़लो ॥  
 सूरज भी तेज तपै कोनी जाइँ स्यूँ डरतो  
 बेग छुपै ।  
 सिगड़चां सारी रातां सिलगै पाणी स्यूँ  
 हाथ न पैर धुपै ॥”\*

शीतकाल में होने वाली व्यथाओं  
 को अंकित करते समय कवि की कलम  
 ने कमाल कर दिखाया है । ऐसा लगता  
 है मानो हम शीतकाल में विहरण  
 कर रहे हैं ।

वस्त्रों से बाहर रहने से तन के  
 ठिठुरने पर ‘ठाकुर’ होने की बात अपने  
 ढंग की अनूठी कल्पना है । साथ ही  
 बिवाई के लिए पर्वतों के दर्रों (खोगाला)  
 की उपमा और रेतीले टीलों पर जमे हुए  
 धवल हिम की चांदी के बर्गों से तुलना,  
 मंदधूप और शीतकाल में जल्दी  
 छिपते हुए सूर्य को जाड़े से डरा हुआ

बतलाने वाले पद्य उक्ति-वैचित्र्य और उपमा की दृष्टि से आश्चर्योत्पादक हैं। इसी वर्णन में आपका कवि-मानस पाले के कारण होने वाले बेचारे अर्कपत्र के विनाश के साथ सहानुभूति दिखलाना और अंट ( जाखेड़ा ) के उत्कर्ष को भी नहीं भूला है।

कवि यथार्थदर्शी होता है। वह प्रकृति के सूक्ष्म परिवर्तन को भी हृदयंगम कर उसे अपनी प्रतिभा का परिधान पहना कर सनातन सत्य को प्रगट कर देता है।

वर्षा का समय है। आकाश में चारों ओर बादल मंडरा रहे हैं। अनु-कूल और प्रतिकूल पवन की प्रेरणा पाकर वे कभी बन रहे हैं और कभी बिगड़ रहे हैं। इसी रहस्य को व्यक्त करने वाले पद्य हैं—

“दुर्जन मन घन री हुवै, एक रीत बिख्यात।  
प्राप्त पराई प्रेरणा, बिगड़े बरगँ छर्यात ॥”

दूसरे की प्रेरणा पाकर क्षण में बनने और बिगड़ने वाले दुर्जन के मन से घन की तुलना कितनी वास्तविक है।

श्लेषालंकार का चमत्कार देखिये—

“अद्धि शेष शय्या तजी, सभ्नी वेश  
अभिराम।

जाणँ वपूँ नभ मैं कियो, घनश्याम  
विश्राम ॥”

‘घनश्याम’ शब्द को कजरारे बादल और विष्णु के रूप में पूर्णतः घटित करना कितना मनोरम है।

कुछ पद्यों को तो पढ़ने से सुक्तियों का सा स्वाद आता है—

परधन पा फूलै सघन विधि दुकूल उन्मूल।  
सौ बरसाती सुरसरी कबुही उड़ासी धूल ॥

बरसाती नदियां जलद से अपरिमित जल पाकर बड़े वेग से बहती हैं, परन्तु जल के उतरने के बाद उन्हीं नदियों की चर में धूल उड़ती नजर आती है। तथ्य के रूप में पराया धन पाकर फूलने वाले की यही गति होती है।

“बढ़ती बढ़ती ही बढ़े शनै-शनै शुरुआत।  
बा कलारा उतराद री सज्जन प्रीति  
सुजात ॥”

थली प्रदेश में उत्तर दिशा से उमड़-धुमड़ कर आने वाली वर्षा को ‘उतरादी कलायण’ कहते हैं, उसका प्रारंभ छोटी-सी बदली से होता है और धीरे-धीरे वह सारे आकाश को अपने अधिकार क्षेत्र में ले लेती है। उसी कलायण की सज्जनों की प्रीति से तुलना कितनी उपयुक्त है।

रूपक अलंकार का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत है—

“शिशिर एकतो शीततम, इतर धाम बिन  
अंत।

सदा शान्त मध्यस्थ मन, संत सरूप  
वसंत ॥”

वसंत ऋतु से पहले शिशिर-ऋतु में भयकर सर्दी रहती है, तो दूसरी ओर वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु में भयंकर गर्मी। सर्दी और गर्मी दोनों से ही अप्रभावित रहता हुआ वसंत संत के समान मध्यस्थ है। वसंत का संत के रूप में अंकन बिल्कुल नया प्रयोग है।

रूपक की दृष्टि से दूसरा उदाहरण मेवाड़ प्रदेश के श्रद्धालु भक्तों की भावना को अभिव्यक्त करने वाले पद्यों में पढ़िये—

“पतित उद्धार पधारिये, संगे सब लह्नी  
ठाठ ।

मेदपाट नीं मेदनी जोवे खड़ी-खड़ी बाट ॥  
सघन शिलोच्चय ने मिषै ऊंचा करि-करि  
हाथ ।

चंचल दल शिखरी मिषै दे भाला  
जगन्नाथ ॥

नयणां विरह तुमारडै भरै निभरणा जास ।  
भ्रमराराव भ्रम करी, लहै लाम्बा  
निःश्वास ॥

कोकिल कूजन व्याज थी, व्रतिराज उड़ावै  
काग ।

अरघट खट खटका करी दिल खटक  
दिखावै जाग ॥

मैं अबला अचला रही किम पहुंचै मम  
संदेश ।

इम भुर-भुर मनु भूरणां संकोच्यो तनु  
सुविशेष ॥”<sup>५</sup>

प्रकृति के प्रति आचार्यश्री के हृदय  
में अनुपम अनुराग है। जरा सा अवकाश  
मिलते ही वह अनायास ही प्रस्फुटित हो  
उठता है। आइये अब हम मेवाड़ प्रदेश  
के नयनाभिराम दृश्यों की ओर चलें —

“मांजरियां हरियां जिहां, सौहे द्रुम  
सहकार ।

कोकलियां खिलियां करै, कुहुक-कुहुक  
टहुकार ॥

आम्र मिठास चिठास नी, सोरभ ही भरै  
साख ।

दरखत छायां निरखतां (हुवै) पथिक  
शयन अभिलाख ॥

मधुकर गुजारव मिषै लहु मधुनो आस्वाद ।  
नहिं नहिं कहि एहवो मधु, एम करै संवाद ॥

डूंगरिया गरिया घणां हरिया-भरिया  
भाल ।

सांमरियां बिन कुण रहै दरियानी सेवाल”<sup>६</sup>

मधुकर के गुंजन में मेवाड़ी मधु  
की महत्ता का निनाद आप नहीं सुन  
सकते, अगर ये पद्य आपके सामने नहीं  
होते ।

इस प्रकार अनेक स्थल हैं, जिन्हें पढ़-  
कर हम प्रकृति से सीधा साक्षात्कार कर  
सकते हैं, पर निबन्ध की भी अपनी  
सीमा होती है ।

### स्थूल परिचय

इस महाकाव्य के दो भाग हैं,  
पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध । दोनों भागों में  
छः खण्ड हैं जिन्हें उल्लास शब्द से अभि-  
हित किया गया है। प्रत्येक उल्लास में  
छ-छ मुख्य विषय तथा अठारह-अठारह  
ढालें हैं। दूसरे उल्लास में उन्नीस ढालें  
होने से उन सबकी सम्मिलित संख्या  
१०९ हो जाती है। कहीं-कहीं प्रसंगा-  
नुसार अंतर ढालें भी रखी गई हैं। ये  
सब श्रुति-मधुर प्राचीन लोक गीतों और  
भजनों की धुनों में हैं। प्रत्येक उल्लास  
के प्रारम्भ और समापन में संस्कृत भाषा  
के विभिन्न वृत्तों और प्रांजल गद्य का  
प्रयोग हुआ है, इनके अतिरिक्त दूहा,  
सोरठा छप्पय, मनोहर, गीतक, मोतीदाम  
आदि छंद भी पर्याप्त मात्रा में हैं। कुल  
मिलाकर समग्र ग्रंथ का अनुष्टुप् पद्य  
परिणाम ग्रन्थाग्र ६६४३ है। इसका  
प्रारम्भ सं० १९९६ फाल्गुन शुक्ला ३  
मोमासर (चूह) में हुआ था किन्तु विशेष  
कारणवश बीच में काफी समय तक  
इसका कार्य बंद रहा, इसकी पूर्ति सं०  
२००० भाद्रव शुक्ला ६ सायंकाल (कालू-  
गरिया के चरम दिवस) के दिन ठीक उसी  
समय गंगाशहर (बीकानेर) में हुई है ।

## (२) डालिम चरित्र

श्री डालगणि तेरापंथ के सप्तम आचार्य थे। वे मालव देश की राजधानी उज्जयिनि के निवासी थे। उनका जन्म आषाढ शुक्ला ४ संवत् १६०६, दीक्षा सं० १६२३ भाद्रव कृष्णा १२, अग्रणी सं० १६३० आचार्य पद चुनाव १६५४ पौष कृष्णा ३। स्वर्गवास १६६६ भाद्रपद शुक्ला २ लाडनू में हुआ। प्रस्तुत काव्य में उनके प्रभावक जीवन-चरित्र को अत्यन्त रोचक ढंग से ग्रथित किया गया है। इसके दो खण्ड हैं। वे ४१ ढालों में विभक्त हैं। उनकी पद्य संख्या १३४५ है। इसकी रचना २०१३ भाद्रव कृष्णा ५ रविवार के दिन सरदारशहर में प्रारम्भ होती है और पूति २०१८ श्रावणी पूर्णिमा के दिन बीदासर में। काव्य की भाषा सरस और शैली प्रांजल है। कहीं-कहीं तो कवि की लेखनी यों चली है मानो एक ही सांस में सब कुछ कह जाना चाहती हो। उदाहरण के रूप में देखिये तेरापंथ के छठे आचार्य माणकगणि के अचानक दिवंगत होने का चित्रण सहनाणी की लय में—

“ओ बिना बगत सूरज छिपगयो, लागै है  
अंबरियो ऊणों।  
बुभगयो दीपक जो जगमगतो करगयो सगलै  
घर नै सूनो ॥  
तारा-नक्षत्र घणां नभ मै पिण चांद बिना  
फीका लागै।  
शासण सारो सब साध-सत्यां शोभै शास-  
णपति रै सागै ॥  
दुधारू गायां गोकल री ओ सूनो छोड़  
गयो ग्वालो।  
खेती लहरावै खड़ी खड़ी पण आज कठै  
है रखवालो ॥

तुलसी प्रज्ञा—३

है सेना सगळी कड़ाजूड़ पण सेणापति  
कोनी आगै।  
शासन रा सारा संत-सत्यां शोभै शासण-  
पति रै सागै ॥  
रथ खड़्यो संभ्योड़ो भरणहतो पण आज  
कठै हांकण हारो।  
सामान पड़्यो सब मू आगै पण आज कठै  
है चेजारो ॥  
असवार बिना रा घोडां नै बोलो जी जोश  
कियां जागै ॥  
शासण रा सारा संत-सत्यां शोभै शासण-  
पति रै सागै ॥”\*

माणक गणि के स्वर्गस्थ होने के बाद सारा संघ चिन्तित था कि भावी आचार्य के निर्वाचन में कोई सांविधानिक व्यवस्था के न होने से निर्णय किस प्रकार से लिया जा सकेगा? यह एक संघ का बहुत बड़ा परीक्षणकाल था। उसी परिस्थिति में संघ के सदस्यों की मनोभावना का वास्तविक वर्णन कितना सामयिक है—

“संतां ! गौरवशाली शासण है सदा स्यूं  
आपणों।  
इण नै द्रोपदी कै चीर ज्यूं बढ़तो ही  
राखणों ॥  
असली सोनो जियां-जियां आग मै तपैला।  
संतां ! बियां-बियां तेज बीरों बधसी  
घणों ॥  
नन्दनवण मै आयो भोलो आज ओ  
अणचिन्त्यो।  
संतां ! सीख्या कोनी कदेई आपां तो  
कांपणों ॥  
आपानै तो आपारी ही रीत मै है चालणों।  
संतां ! अवळी-सवळी बातां करसी जणो  
जणों ॥”\*

प्रस्तुत चरित्र में संवादों की शैली भी काफी रोचक और मनोवैज्ञानिक है। मुनि डालिम के आचार्य पद पर निर्वाचित होने की सूचना पाकर उनके सहवर्ती संत नाथूजी भाव-विभोर होकर निवेदन करते हैं—

“दो हाथ कांबळी ऊपर अब कभी नै  
पोढण दचूला,  
बै कृपण परौ रा कापडा अब कभी नै  
ओढरा दचूला,  
हो म्हारा मुकुटमणी.....॥

महैं तो पहली जाणै हा, विण आप एक  
नहीं मानी,  
अबतो माडाणी मानो आ टेलीग्राम निसाणी,  
चमक ज्यूं हिरण कणी.....॥

कहै डालिम रै नाथूजी । मत बोल, मौन  
तू राखै,  
आपां आगीनै चालां, पहली देखै फिर  
भाखै,  
सयाणा आ ररणी.....॥

देखता आंख्यां थांकी ओ छिपै न भाग्य  
छिपायो,  
कांई रह्यो देखणो बाकी, स्वर्णिम सूरज  
उदियायो,  
है जागी कृत करणी.....॥

अब लग मालिक कर सेत्या, आचारजांरी  
आज्ञा सूं ।  
अब सकल संघ अधिनायक, प्यारा म्हारा  
प्राणा सूं ।  
खिली अंबर धरणी.....॥”<sup>६</sup>

### ( ३ ) माणिक महिमा

तेरापंथ के छठे आचार्य श्री माणिक गरिण राजस्थान की राजधानी जयपुर के निवासी थे। उनका जन्म १६१२ भाद्रव कृष्ण ४, दीक्षा १६२८ फाल्गुन शुक्ल

११, अग्रणी १६३१, आचार्य १६४६ चैत्र कृष्ण ८ तथा स्वर्गवास १६५४ कार्तिक कृष्ण ३ सुजानगढ़ में हुआ था। प्रस्तुत कृति में माणिक गरिण के सम्पूर्ण जीवन को संक्षेप किया गया है। २१ ढाळे हैं उनको २८ प्राचीन लोक गीतों की धुनों में रचा गया है। इसके कुल पद्य ५६४ हैं। जिनमें दोहा, सोरठा १२८, लावणी छंद २५, गीतक छंद ८ तथा कलश १ है। इसकी रचना संवत् २०१३ श्रावण कृष्ण ३ तथा पूर्ति २०१३ भाद्रव कृष्ण ४ सरदारशहर में हुई है। एक मास में पूर्ण इस रचना के कई स्थल साहित्यिक दृष्टि से संग्रहणीय हैं। उदाहरण के रूप में—

“पाटनगर ढूढाड़ देश को, जयपुर शहर  
पुराणो ।  
राजस्थान महान राज्य को, अब है केन्द्र  
बखाणो ॥  
बड़ी मनोरम बणी सजावट, निरखत  
नयन लुभावै ।  
देख्या शहर अनेक एक, जयपुर की छटा  
निराली ॥  
वो जोहरी बाजार निहारो चिहूँ और दृग  
डाली ।  
चौपड़ रो चोगान देख चतुरां रो चित्त  
चकरावै ॥  
बण्यो हवाई 'हवामहल' त्यों त्रिपोलियै रो  
तोरो,  
लंबी-चौड़ी सड़कां में ह्वै सागीड़ो जी  
सोरो ।  
रामनिवास बाग में सावण भादुड़ो  
बरसावै ॥  
मोती-डूंगर रा महलां में मोजीड़ो मन  
भीजै,



जंतर-मंतर और नाहरगढ़ गीतां में गाईजै ।  
ढळतो ही दीखै टाइम जद गळतो स्हामो  
आवै ॥  
घाट और निशियां जळ महलां अनेक  
लोक आलोके,  
पंक्तिबद्ध प्रासाद शहर रा, बरबस जन-  
मन रोके ।  
गज निमिलिका गळघां देख, कुण गुण मैं  
अवगुण गावै ॥  
मिलै ना शुद्धाचार विचार, मनो मोदक  
मदुताई,  
(तो) केवल बर्फी कलाकंद की, कुणसी  
कही बडाई ।  
जयपुर जनता धार्मिकता री, सुन्दर शान  
बढावै ॥” १०

थली प्रदेश में एक उक्ति प्रच-  
लित है:—

“जो नहीं देख्यो जयपुरियो ।  
तो कुळ में आकर के करियो ॥”

अर्थात् सब कुछ देख लिया पर  
अगर जयपुर नहीं देखा तो कुल में जन्म  
लेकर ही क्या किया । उपरोक्त पद्यों में  
चित्रित दर्शनीय स्थलों से भरपूर जयपुर  
का मनोरम सौंदर्य देखने के बाद यह उक्ति  
अन्यथा प्रतीत नहीं होती ।

### ( ४ ) मगन चरित्र

मन्त्री मुनि श्री मगनलालजी तेरा-  
पंथ संघ के उन मनीषी मुनियों में थे,  
जिन्होंने अपने कर्तव्य और बुद्धि-कौशल  
से सारे संघ पर एक विशेष प्रभाव जमा  
कर आबाल वृद्ध की श्रद्धा अर्जित करली  
थी । वे उन विरल विशेषताओं के कारण  
संघ में सर्व-प्रथम ‘मन्त्री’ की सम्मान्य  
उपाधि से विभूषित किए गए थे । इस  
कृति में उनकी घटना प्रधान जीवन भांकी

प्रस्तुत की गई है । उन्हें तेरापंथ के पांच  
आचार्यों का युग देखने का अवसर मिला  
था । इसी बात को ध्यान में रखते हुए  
आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ को ५ युगों में  
विभक्त किया है ।

छठा विभाग है, जीवन-भांकी ।  
जिसमें मन्त्री मुनि के मधुर संस्मरणों को  
नोंघ रूप में प्रस्तुत किया गया है और  
अन्त में प्रशस्ति-प्रकरण में रचना-काल में  
होने वाली यात्रा और समागत बाधाओं  
का उल्लेख करते हुए उसकी पूर्ति आदि  
की सूचना दी गई है । तदनुसार इसकी  
पूर्ति ८ जुलाई १९७१ के दिन (चंदेरी)  
लाडनूँ में हुई है । इसके लगभग १०००  
पद्य हैं । जिन्हें दूहा, सोरठा, सहनाणी  
छंद, लावणी छंद, चौपाई, कलश, अप-  
जाति, शिखरिणी, शार्दूल-विक्रीडित,  
हरिगीतक, रामायण आदि छंदों के अति-  
रिक्त लगभग २० लयों में लिखा गया  
है । कृति की भाषा सरस और प्रांजल  
है ।

काव्य में वही कवि सफल हो  
सकता है जो प्रकृति के कण-कण से  
अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है ।  
प्राकृतिक दृश्य, ऋतुएं, स्थानीय लोगों का  
रहन-सहन और क्षेत्रीय खान-पान आदि  
की बातें सभी जानते हैं किन्तु कवि की  
अनुभूति का मिश्रण पाकर जब वे लेखनी  
का विषय बनती हैं तब नया ही रंग  
खिल जाता है । नमूने के तौर पर  
देखिये—

“मोटा-मोटा है शैल खड्या, वृक्षावळियां  
स्यूं हरघा-भरघा,  
नदियां नाळां रो पार नहीं, तालाब जमीं  
स्यूं जडघा-पडघा ।

मोसम-मोसम में लड़ालुम्ब, बै खेत खडधा  
लहरावै है,  
कोयलियां कूजै कूहुक-कूहुक, पथिकां रो  
स्वागत गावै है ॥  
रुत-रुत रो फसलां खूब फळै, भूमि भारी  
उपजाऊ है,  
फळ रकम-रकम रा मधुर-मधुर मोसम रो  
मोज अमाऊ है ।  
सरदी-गरमी रो जोर नहीं, मझली सी  
रुत हरदम बरतै,  
लू धूप लागणै रो भय तो मेवाड़ रह्यो  
सरतै-बरतै ॥११

मेवाड़ी लोगों के खान-पान में जब  
मक्की और उड़द की प्रधानता रहती  
है, वे विविध प्रयोगों से उनके पदार्थ  
बनाकर खाते हैं। अब तक अनेक शब्द-  
कोश प्रकाशित हो चुके हैं पर उनका  
विवरण उनमें शायद ही मिले।

जाभरियो, भक़ोलवां - पूड़्यां,  
डलाराब, फाडाराब, पलेव, काली रोट्यां,  
डबोकल्यारी कट्टी, फळफळ, सेम, बरकणा  
रो साग आदि वस्तुओं से परिचित होने  
के लिए इन पद्यों पर दृष्टि डालिए—

“जब मक्की रो जब खास खाण गेहूं रो  
भी अब कमी नहीं ।  
उड़दां रो दाल बाफलां रो, वा जोड़ी  
किण नै गमी नहीं ॥  
भुजिया भक़ोलवां-पूड़्यां रो जाभरिया रो  
जद स्वाद जमै ।  
धी गत्या ढोकळा मकियां रा, लख मुख  
रो पाणी नहीं थमै ॥”  
“डळाराब, फाड़ा रो दूजी पतली बाणै  
पलेव  
काली रोट्यां डबोकळारी कट्टी फळफळ  
सेव

साग टिमरू और कुमठिया  
बरकण विविध बघारै सारै गोगुन्दा रो  
सीम में हो ॥”१२

राजस्थान के रेतीले प्रदेशों की  
उष्ण और लू से पीड़ित होकर बहुत से  
लोग मसूरी, नैनीताल और शिमला जैसे  
ठण्डे प्रदेशों में सैर करने के लिए जाते  
हैं पर उन्हें पता नहीं है कि उनके अपने  
ही राजस्थान में कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं  
जो उन स्थानों से कई दृष्टियों से अधिक  
रमणीय हैं। मंत्री मुनि की जन्म स्थली  
‘गोगुन्दा’ की सीमा में प्रविष्ट होने पर  
आपको ऐसा ही अनुभव होगा।

“करै गगन स्यूं बाद पहाड़्यां है पथरीली  
पाथ,  
संकड़ी पगडण्ड्यां मैं बहणों रहणों कर  
स्थिर गात,  
सड़कां पक्की रो नहीं वक्की,  
मुश्किल मिलै गडारै सारै गोगुन्दा रो  
सीम में हो सीम हो ॥  
ऊंडी पड़ी दराड़ा ऊपर लडालुम्ब है खूख,  
नीचै भुक जयणां स्यूं टुरणां टळनो रस्तै  
दूंक

भंगी भाड़्यां आवै आड्यां,  
डग-डग दृष्टि पसारै, सारै गोगुन्दा रो  
सीम में हो सीम में ॥  
नीर बहै भर-भर भरणां रो, करुणां रो  
बहलाव,  
अम्ब डाल कोयलियां कूजै गूजै मधुराराव,  
जाई जुही रो खुशबू ही,  
अलि निकुरम्ब विहारे सारे गोगुन्दा रो  
सीम में हो सीम में ॥  
पथरां में जड़ रोप खड़्या है निम्ब जम्ब  
सहकार,  
ढेर-ढेर धव खदिर पलांस वरै डेर भरमार,

गुच्छलत्ता स्यूं वच्छलत्ता स्यूं,  
पथ श्रम पथिक निवारै, सारै गोगुन्दा री  
सीम मैं हो सीम मैं ॥  
आंकी बांकी बहे बाहिन्या रहे निरन्तर नीर  
लम्बा चौड़ा खाळ नाळचा हरै पथिक श्रम  
पीर

चट्टानां मैदाना ज्यूं  
महमांना नै सतकारै सारै,गोगुन्दा री सीम  
मैं हो सीम मैं ॥  
जांगळ जीव भेड़िया भालू, सांभर, शशक,  
सियार,  
काळा, मोडा और चीकला, हिरणां री  
भरमार

लम्बड़पूँछो, बांदर छूँछा,  
उछळकूद तह डारै सारै, गोगुन्दा री सीम  
मैं हो सीम मैं ॥  
जेठ मास में भी सलै मैं सीयाळै सो सी  
कांबळ ओढ़्यां भीतर पोढ़्यां ही भागै  
मन भी

पर माछरडा, मांकण सरडा  
अंदर अंग विदारै, सारै गोगुन्दा री सीम  
मैं हो सीम मैं ॥  
बिरखा पड़ै विमात्रा पण है कामणियां री  
जोर  
कई दिनां स्यूं सूरज दीसै, मुक्किल पोर-  
दुपोर

रिमफिम बरसै कण-कण सरसै  
भू-भागिनि सिरागारै, सारै गोगुन्दा री  
सीम मैं हो सीम मैं ॥<sup>११३</sup>

मेवाड़ के लोगों का सादा जीवन,  
शुद्ध चर्या और श्रमनिष्ठा वस्तुतः बेजोड़  
है। साधु-समागम की सूचना पाते हैं तो  
वे सम्मुच्छिम जीवों की तरह सहस्रों की  
संख्या में कंधों पर बिस्तर और खाने-  
पीने का सामान हाथ में लिए पैदल ही

मगरों के मार्ग को मिनटों में लांघते हुए  
अपने लक्ष्य को साध लेते हैं। जहां अव-  
सर मिला मरदानी खाना अर्थात् दाल-  
बाटी पकाई, खाई और बस न कोई भूँभट  
न कोई खटपट।

‘मिनटां मैं जीव छमुच्छिम रो ढिग लागै,  
त्युं मेदपाट जनता भिगमिग कर जागै,  
खांधां धर बिस्तर पगां बिदा हो ज्यावै  
मगरां रो मारग मिनटां मैं लंघ ज्यावै’  
‘जात्रा मैं मिल मरदानी खाणों खावै  
जगरा मैं बाट्यां सेक शुद्ध घी पावै  
उड़दां री दाळ चूरमूं शिघ्र समेटै  
नहीं अठी बठी कहीं उलभं लफरै लेठै’  
‘श्रम में नहीं शरम अमीरी अंग नहीं है  
सादो जीवन और चर्या शुद्ध रही है’<sup>१४</sup>

अध्ययन की दृष्टि से मंत्री मुनि का  
गृहस्थपन में सिर्फ दो महीने का समय  
लगा था उसमें बारह आना अर्थात् पौन  
रुपया खर्च हुआ था। इस बात पर व्यंग  
करते हुए आचार्य श्री ने लिखा है—पौन  
रुपये के व्यय से ही वे इतने बुद्धिमान बन  
गये थे, अगर पूरा रुपया लगा देते तो  
कोई नया ही रंग खिलता—

‘दो महीनां री करी पढ़ाई, बारह आना  
रकम लगाई।  
सोलह आना अगर खरचतो, तो कोई रंग  
अनोखो रचतो ॥<sup>१५</sup>

शिष्य का संसार सुगुरु में ही केन्द्रित  
रहता है, सुगुरु से बिछुड़कर जब वह  
उनकी स्मृति में डूबता है उसकी क्या  
स्थिति होती है और क्या कामना करता  
है इसका चित्र प्रस्तुत है शिखरिणी और  
शादूल विक्रिडित छंदों में—

अरे रे ! वै रातां विगत दिन बातां सुमरतां,  
भरीजै है छाती विरह दुख बाती उभरतां।

कठै बै श्रीकालू वरद कर म्हारे शिर धरयो  
मनै पाळचो पोस्यो मधु-मधुर शिक्षामृत  
भरचो ॥

'म्हारे सम्मुख एक बार फिर स्यूं सारो  
निजारो दिखा,  
सारी सारण-वारणां गुरूवरू मोने दुबारा  
सिखा ।

ज्यूं - त्यूं एकर स्यूं बस्यूं हृदय में मैं  
आंख स्यूं भांक स्यूं  
तो म्हारै मनरा मनोरथ फळै साक्षात्  
स्वयं आंकल्यूं ॥' १६

#### (५) छोगांजी रो छव ढाळियो

साध्वी श्री छोगांजी का जन्म  
१६०१ आषाढ कृष्णा ४ दीक्षा १६४४  
आसोज शुक्ला ३ स्वर्गवास १६६७ चैत्र  
कृष्णा ११ बीदासर में हुआ था। आप  
अष्टामाचार्य श्री कालूगणि की जननी  
थीं। स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या ही  
आपका जीवन था। आपने ६६ वर्षों के  
जीवन में २१ वर्ष से अधिक तपस्या की  
थी। प्रस्तुत कृति में आपके जीवन पर  
अथ से इति तक प्रकाश डाला गया है।  
इसमें ६ पाठ एक अन्तरढाळ और अन्त  
में एक मिलोका है। कुल पद्य १७४ हैं।  
राजस्थानी कृतियों में ग्रन्थ रूप में आचार्य  
श्री की यह प्रथम कृति है। इसकी सर-  
सता प्रदर्शित करने के लिए एक ही पद्य  
काफी है। इसमें अनुप्रास, यमक और रूपक  
तीनों ही आपको मिल जाएंगे—

'सुकुन-समुद्र कलानिधि, कला कलानिधि  
सिधु ।  
भावुक - भ्रम तामस हरण, श्रीकालू  
शरदिन्दु ॥' १७

#### २. आख्यान

इस वर्ग के अन्तर्गत आचार्य श्री

की १७ कृतियों को लिया जा सकता  
है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है इनमें  
ऐतिहासिक, लोकप्रचलित और आगमिक  
कथानकों को सरल-सरस, पद्यमयी भाषा में  
रचा गया है। इनका उद्देश्य है जन-जन  
में व्याप्त अनेक बुराइयों का परिष्कार और  
आध्यात्मिकता का प्रसार।

#### (१) राजर्षि उदाई

सिधु और सौवीर देश के अधिपति  
महाराज उदाई के कथानक को हृदयग्राही  
ढंग से प्रस्तुत करने वाली इस कृति में  
१८ मुख्य ढाल तथा कुछ अंतरढाळें भी  
हैं। जिनकी कुल पद्य - संख्या १८८ है।  
इसके कई स्थल मार्मिक और कर्ण रस  
से ओतः प्रोत हैं। महाराज उदाई दीक्षित  
होते समय पुत्र की सहमति के बिना अपने  
भानेज केशी को राज्य दे देते हैं। उस  
समय राजकुमार अभीच की मनोदशा को  
अभिव्यक्त करने वाले कर्ण रस से भरे  
विलाप का रूपक के रूप में एक चित्र  
दृष्टव्य है—

'म्हारो महल लुटायो'.....

दीन वदन गद्गद् स्वरे बोले कुंवर अभीच ।  
नयण निभरणां जिम भरै करै मुखागल  
कीच ॥  
ना कोई तस्कर आवियो ना कोई पाड़ी  
घाड़ ।  
तो पिरा ना रही ईंटड़ी तिह कारण  
ताड़ाफाड़ ॥  
आंधी उदधि थी उठी जल बिच लागी  
आग ।  
रक्षक ते भक्षक थया, हा-हा हूँ हत भाग ॥  
सोस्यूं नूतन सदन में धरतो आश विशाल ।  
भागणें पुरस्यो ही रह्यो (मानो) बिचही  
खुव्यो कपाल ॥

हांती नो हकदार जे थयो सीले देश  
सिरदार ।  
उलटी गंगा इम बहे थयो में हांती  
हकदार ॥' १८

## (२) नीत रो प्यालो

'नीत के पीछे बरकत' इस सूक्ति  
को स्पष्ट करने वाली इस कृति के ५२  
पद्य हैं। इसकी रचना संवत् २०१५ आसोज  
शुक्ला १२, कानपुर में हुई है। कृषि में  
मस्त और श्रम में व्यस्त ग्रामीण बुद्धिया  
से अपनी धरती की प्रशंसा और सीधे-सादे  
जीवन की बात सुनिये—

'वीरा धरती म्हारी रे दुखियां री आधार ।  
धरती म्हारी प्राणां स्यूं ज्यारी मन  
बखित दातार ॥

अम्बर बरसे धरती दूभं, पीबारा पच्चीस ।  
और राजारी पूगी-पूरी म्हानै है बगसीस ॥  
दो आनी भर कर म्हारै पर नहीं कोई  
ओचाट ।

थोड़ी सी आ महनत मांगै, घणा दिखावै  
ठाठ ॥

दूध-दही दे भैस्यां-गायां आठ पौर आराम ।  
धान भरचो कोठा में म्हारै नहीं खटपट  
रो काम ॥

म्है महनत रो खाणो खावां मौज उडावां  
रोज ।

राखां नहिं माथे पर वीरा ! म्है कोई रो  
बोझ ॥

सच्चावट रो लेणो-देशो नहिं कोई जाणां  
चौज ।

कमज्या सारू खरचो राखां म्है हा राजा  
भोज ॥

## (३) गजसुकुमाल

'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न है'

तुलसी प्रज्ञा—३

इसी तथ्य को साकार रूप देने वाली इस  
कृति में ७ ढाळों के ९५ पद्य हैं। बीभत्स  
रस का एक उदाहरण श्मशान की  
विभीषिका के वरुण में देखा जा सकता  
है :—

'जंगल की भ्रुकृति भांय-भांय चिहुं और  
जलै शव सांय-साय ।  
अधजले मृतक कर्हि परे, गीध चांचों से  
छोले छाल ॥  
कर्हि पड़े अस्थि के ढेर-ढेर, कर्हि करे फेरू  
गण फेर फेर ।  
फंफेर कलेवर कहीं शुनिसुत खाते खोद  
निकाल ॥

नरमुण्ड माल धर प्रेत कहीं मिल अट्टहास  
करते उमही ।

कायर को जंह कमजोर कळेजो देखत  
होत दुडाल ॥

डाकिनी के डेरे डगर-डगर शाकिनी शव  
जोवे टगर-टगर ।

मानव मुख मगर न दिखै कहां निशि भर  
मघान्ह विचाल ॥' १९

## (४) शालिभद्र और धन्नजी

सीभाग्य और त्याग के उत्कृष्ट  
उदाहरण के रूप में इस आख्यान को  
प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य श्री  
के शब्दों से ही शालिभद्र की ऋद्धि से  
साक्षात्कार कीजिए—

'मक्खन सम मुदुल तूल शय्या महके मनु  
खुशबू खान खुली,  
गुंजारब मधुकर करते उपवन सी आभा  
खूब खिली

चिहु तरफ बरफ सी शीत-समीरण भीणां  
वीणां की भंकार बजै

आलय को अनुपम दृश्य अदृश्य गगन सह  
मनु संवाद करै...

बत्तीस वधु सुर वार वधु सम दिव्याम्बर  
 शृंगार सर्भं,  
 नाना भूषण भूषित छण-छण शालिभद्र  
 की वाट भर्ज ।  
 कब उदय होत उद्योत करत दिनकर कब  
 पाये अस्तगति,  
 खबर न बीते वर्ष मास दिन छिन सम अहा  
 सौभाग्य स्थिति ।  
 महिलां में मजुल मौज मनोज विडोजा  
 की छवि नैरे हरे...२०  
 अनुप्रासों से ओतःप्रोत इस कृति  
 में पांच ढाळें और ६० पद्य हैं ।

### (५) भावदेव नागला

‘डूबते को तिनके का सहारा’ इस  
 तथ्य का सही रूप प्रदर्शित करने वाली  
 इस कृति में ४ ढाळें तथा ८२ पद्य हैं ।  
 इसमें साधना पथ से विचलित होने की  
 स्थिति में मुनि भावदेव को देखकर उनकी  
 परनी नागला चिन्तन करती है—

‘डगमग करती भोला खावै, नय्या बिन  
 पतवारी ।  
 चीलां उतरण-हारी दीसै गाडी बालिम  
 वारी ॥  
 तैल विहूणों दीपक ओ तो करस्यै अब  
 अधियारी ।  
 अतिम श्वास लहै जिम लागै ओ मुनि वेश  
 विहारी ॥  
 अंतिम माया तो एक देस्यूं जागृत हवै  
 जदि नाडी ।  
 नहि तर होण हार जो होस्ये भाग्य परीक्षा  
 म्हारी ॥’ २१

### (६) सन्तकुमार चक्रवर्ती

३ ढाळों की इस कृति में कुल ४०  
 पद्य हैं । इसमें चक्रवर्ती सन्तकुमार अपने

रूप के गर्व में ब्राह्मण वेशधारी देव से  
 कहते हैं—

शंशधर की शोभा जब ही खिलै, सब ग्रह  
 नक्षत्र मिलान मिलै ।  
 इनके बिन दिन में विधुवर लगै न प्यारो...॥  
 उपवन की आभा आब भिलै जब ही  
 पचरंगे फूल खिलै ।  
 बिन पुत्र पुहुप हुवै जंगल जिम भंकारो...॥  
 इसी तरह—

‘जब सिंहासन आरूढ बनूँ सब वस्त्राभूषण  
 साथ सनूँ ।  
 लाखूँ नर निरखै म्हारो महर नजारो, फिर  
 देखो रूप हमारो ।’ २२

थोड़े समय के बाद ही चक्रवर्ती के  
 शरीर में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न होने  
 पर उसका गर्व चूर-चुर हो जाता है ।  
 अशोच भावना को विकसित करना इसका  
 मुख्य प्रतिपाद्य है ।

### (७) अनाथी

‘आज लगे पिण कब कबहि न कीन्हों मैं तो  
 भक्ति थारी ।  
 बिन भक्ति जो तारण चाहे तो तूँ मुझ  
 ने तारी ॥  
 मैं तो जाण्यो धर्म नाम नहिँ आवश्यक  
 कोई जग में ।  
 पर अब समझूँ बिना धर्म, गाडी अटकै  
 पग-पग में ॥  
 पर दुख परे स्मरे सब तुझको सुख में  
 कुण स्मृति ल्यावै ।  
 जो सुख में तुझनै नहिँ भूलै (तो) क्यूँ  
 दुख भूले भूलै ॥’ २३

ये उद्गार एक युवक के हैं जिसकी  
 आंखों में एक बार विकराल वेदना हो  
 गई । अनेक उपचारों के बाद भी जब वह

शान्त नहीं हुई तब उसने धर्म की शरण ली और सहसा वह स्वस्थ हो गया। यही पुत्रक आगे चलकर अनाथी मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सात ढालों में रचित इस आख्यान के १०४ पद्य हैं।

### (८) विजय-विजया

ब्रह्मचर्य का अलौकिक उदाहरण प्रस्तुत करने वाले इस आख्यान की २ ढालों में कुल २२ पद्य हैं। सार रूप में कुछ पद्य पढ़ लीजिए—

“सब संयोग अवस्था यौवन, कुसुम  
बिच्छ्या सुख शय्या ।  
भर तूफान महान भंवर विच मानो नहि  
डोली नैय्या ॥  
पावक पर मक्खन धन रहियो नहि बहियो  
जल ढाल सही ।  
स्थूतिभद्र नीं ख्यात भ्रात ! अहि वाह-वाह  
विजया-विजय लही ॥” २४

### (९) बाहुबलि

सम्राट भरत को भी भुजबल से विचलित करने वाले बाहुबलि अपने मन को नहीं मना सके। फलतः बारह वर्ष की कठोर तपश्चर्या के बाद भी केवल ज्ञान नहीं हुआ। आखिर ब्राह्मी-सुन्दरी के संगीत से प्रतिबद्ध होकर सिद्ध बने। इन्हीं रहस्यों को प्रकट करने वाले इस आख्यान में ७ ढालें और ६८ पद्य हैं।

### (१०) सुदर्शन

अर्जुन माली जैसा महान हिसक अहिसक बन गया। यह प्रभाव था दृढ़धर्मी सुदर्शन के शौर्य का। उसका दिग्दर्शन कराने वाले इस आख्यान में ३ ढालें और ३६ पद्य हैं।

### (११) देवकी

४ ढाल और ३२ पद्यों में रचित इस

आख्यान में श्रीकृष्ण की मां देवकी और उनके ६ भाइयों का रोचक विवरण है।

### (१२) सौदास

व्यसनी और जिह्वा के लोलुप व्यक्ति अपने हिताहित को भूल जाते हैं। इसी भावना को स्पष्ट करने वाले इस आख्यान में ३ ढाल और ४८ पद्य हैं।

### (१३) वज्रकरण

इस आख्यान में २ ढालें तथा २३ पद्य हैं। इसका प्रतिपाद्य है—प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन और शिकार वर्जन।

### (१४) भरत चक्रवर्ती

इसकी ३ ढाल तथा २४ पद्य हैं। इसमें अनित्य भावना का महत्व प्रदर्शित किया गया है।

### (१५) नमि राजर्षि

एकत्व भावना के उदाहरण रूप में यह आख्यान अलौकिक है। इसकी २ ढालों में कुल २४ पद्य हैं।

### (१६) सुकुमालिका

स्वार्थी व्यक्ति के सामने सारे संबंध गीण हो जाते हैं। इसका स्फुट चित्र देखना हो तो इस आख्यान को पढ़ें। दो ढालों में गुंफित इस कृति के ३० पद्य हैं।

### (१७) कथा कल्प लता

इसमें ६ लघु आख्यायिकाएं हैं—

- (१) सुकोशल ढाल-१, पद्य १३।
- (२) समुद्रपाली-ढाल १, पद्य १८।
- (३) श्रेणिक ढाल-१, पद्य १८।
- (४) सुलसकूमर ढाल-१, पद्य १६।
- (५) संत तुलसीदास ढाल-१, पद्य ६।
- (६) संत नामदेव ढाल-१, पद्य ५।

सभी आख्यायिकाओं के अलग-अलग

प्रतिपाद्य हैं। आख्यान वर्ग के अन्तर्गत उल्लिखित प्रायः आख्यानों की रचना सं. १९९९ से २००१ के बीच हुई है। समया-भाव के कारण आचार्य श्री ने इनका पुन-निरीक्षण नहीं किया है अतः संभव है वंसा होने पर इनकी पद्य संख्या और बढ़ जाएगी।

## (३) शिक्षा

### (१) श्री कालू उपदेश वाटिका

शिक्षा वर्ग के अन्तर्गत आने वाली यह कृति एक मंगलद्वार, चार प्रवेश और १४५ ढालों में संदब्ध है। इसमें १०१४ पद्य हैं। इसकी रचना का प्रारम्भ सं. २००१ लाडनू में तथा पूर्ति २०१५ भाद्रव शुक्ला ६ कानपुर में हुई है। यह कृति आधुनिक ढंग से संपादित होकर सन् १९६१ में 'आत्माराम एण्ड सन्स' देहली से प्रकाशित हो चुकी है। अतः विशेष जानकारी के लिए वह पुस्तक दृष्टव्य है।

## (४) पदयात्रा

### (१) महाराष्ट्र-यात्रा

पदयात्रा वर्ग में इन दोनों कृतियों को लिया जा सकता है। अंतरिक्ष-यात्रा के इस युग में पदयात्रा की बात कुछ अटपटी सी लगती है। पर जन-संपर्क की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। गांवों और शहरों में हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुंचने के लिए एकमात्र सफल उपाय यही हो सकता है। इससे विभिन्न संस्कृतियों, रीतिरिवाजों आदि का समुचित अध्ययन हो जाता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्यश्री ने अनेक लम्बी-लम्बी यात्राएं की हैं। उनमें से कुछ यात्राओं का पद्यों में संकलन इतिहास - सुरक्षा की

दृष्टि से नया उपक्रम है। सं. २०११ फाल्गुन मास में महाराष्ट्र परिभ्रमण के समय यह कार्य प्रारम्भ हुआ। कुल ८३ पद्य बने फिर अन्य कार्यों में व्यस्त होने से वह क्रम टूट गया फलतः महाराष्ट्र यात्रा का विवरण इस कृति में अधूरा है।

(२) दक्षिण यात्रा—दक्षिण यात्रा के लगभग ७२५ पद्य हैं। इसे चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है—

प्रथम चरण—आषाढा से अहमदाबाद  
द्वितीय चरण—अहमदाबाद से मद्रास  
तृतीय चरण—मद्रास से बंगलोर  
चतुर्थ चरण—बंगलोर से रायपुर

दोनों कृतियों में यात्रा के प्रसंग में जिन जिन ग्रामों में परिभ्रमण हुआ, उन ग्रामों के दर्शनीय-स्थल प्राकृतिक सौंदर्य, विशेष संस्मरण और नई घटनाओं को नवनीत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए ऐतिहासिक क्षेत्र 'हम्पी' को लीजिए जिसे कभी किष्किन्धा नाम से पहचाना जाता था। आचार्यश्री ने उसका परिचय यों दिया है—

“हम्पी रो इतिहास खंड-खंड में खंडहर।  
खंडहरां में खास वास्तु शिल्प विस्मय  
जनक ॥

ऊपर अणघड टोळ अड्या-पड्या अणमाप  
का ॥

नीचै ठण्डी ठोड़ बैठ्या पथ श्रम बीसरै ॥  
प्रस्तर क्रिया कमाल कीन्हों हृद कारीगरां ॥

(पर) मुगलकाल भूचाल मैं सब क्षत-  
विक्षत हुआ ॥”<sup>२५</sup>

तम्बाकू का मुख्य केन्द्र जयसिंहपुर (महाराष्ट्र) का इलाका व्यापारिक, शैक्षणिक आदि अनेक दृष्टियों से समृद्ध है।



उसके आस-पास के शहर सांगली, इचल-कांजी और कोल्हापुर भी क्रमशः हल्दी, हेण्डलूम (हाथकरघा) और गुड़ आदि वस्तुओं के केन्द्र हैं। उसी का दिग्दर्शन कराने वाले पद्य हैं—

“सुन्दर अति सरसब्ज इलाको, कदम-कदम  
पर शिक्षण केन्द्र ।  
बड़ा-बड़ा व्यापारिक सेंटर जन-जन बोले  
जय-जैनेन्द्र ॥

हलद केन्द्र है ‘सांगली’ ‘इचलकरंजी’ लूम ।  
तम्बाकू ‘जैसिंह’ तरुण ‘कोल्हापुर’ गुड़  
धूम ॥” २६

यात्रा के दौरान आचार्य श्री एक ‘कागल’ नामक गांव के प्राचीन महल में ठहरे । राजस्थानी भाषा में ‘कागल’ कागज को कहते हैं । इसको आलंकारिक रूप देते हुए आपने लिखा है—

“लिखराँ-पढ़राँ को लख्यो कागळ आज  
तलक्क ।  
पर कागज रँ महल पर छायो अभिनव  
छक्क ॥” २७

‘चिदम्बूर’ शहर किसी समय में जैनों का गढ़ था । वहां का ग्रंथ-भण्डार देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है, पर आज वह जीर्ण-शीर्ण और अव्यवस्थित अवस्था में है । उस पर आचार्य श्री ने लिखा है—

“जैन ग्रंथ भण्डार वर देख दुर्दशा कीर्ण ।  
‘चिदम्बूर’ चेतन हृदय होण लय्यो  
बीदीर्ण ॥” २८

तमिलनाडु प्रान्त प्राकृतिक दृष्टि से अति रमणीय है पर वहां के निवासियों का रहन-सहन तो वैसा ही है—

“खेत-खेत में देत सा जावक नंग-धडंग ।  
खड़ा मस्त निज किसव मैं मानव रंग

तुलसी प्रज्ञा—३

विरंग ॥

गन्ना चावळ री घणी नेपै भरा निवाण ।  
तमिलनाड यात्रा तणा ऐ देखो अह-  
नाण ॥” २९

‘केरल’ छोटा सा प्रदेश है । वहां पर क्रिश्चियनों और कम्युनिस्टों का बाहुल्य है । प्रकृति की उस पर पूर्ण कृपा रही है । आचार्य श्री के शब्दों में सारा राज्य एक उपवन जैसा है । आपने नहीं देखा है तो इन पद्यों को पढ़ लीजिए—

“कम्युनिष्ट अह क्रिश्चियन, काजू, कन्द,  
कटेल ।

नालिकेर, कालीमिरच, केरल रेलपेल ॥  
रंभा, रब्बड़, आम, अनारस वड़, पीपड़,  
बादाम ।

ताड़, सुंपारी किते नये तरू नहीं जानें  
हम नाम ॥

सारो राज्य खिल्यो उपवन सो, पर नहीं  
विहग विशेष ।

सुधड़ सभ्यता और स्वच्छता केरल कांत  
प्रदेश ॥” ३०

इसी क्रम में लगते हाथ नर लोक का नंदनवन नील गिरी-उटी (उटकमंड) का भी अवलोकन कर लीजिए—

“ताड़ नारियल कदली वन-वन अनगित  
वृक्ष सुपारी के ।

लूंग जायफल, और जैवंत्री पेड़ हाट व्या-  
पारी के ॥

आम, विजोरा, काफी, नीलगिरी के ऊंचे  
भाड़ खड़े ।

कितने चढ़े जिधर देखो ऊंचे के ऊंचे  
पहाड़ खड़े ॥

सिमला रहा सुदूर दार्जिलिंग देखा नहीं ।  
‘नीलगिरि’ ‘कुन्नूर’ नंदनवन नर लोक का

ऊंचाई आसमान साढ़ी सात हजार फिट ।  
सिनरी आलीशान निरखि गरिमा नील-

२७

गिरि ॥

पीप-माघ सी ठण्ड उन्हाळो घ्रांख्यां लखी ।  
आखिर पड्या अखण्ड ऊनी कपडा  
ओढरा ॥” ३१

## (५) श्रद्धांजलि

### (१) श्रद्धेय के प्रति (राजस्थानी विभाग)

इसमें देवगुरु और धर्म की स्तवना के रूप में रचित गीतिकाएं हैं। ये गीतिकाएं प्रायः संघीय उत्सवों के अवसर पर समर्पित श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित की गई हैं। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन सन् १९६१ में आत्माराम एण्ड मन्स दिल्ली के द्वारा हो चुका है। उसमें दो विभाग हैं—हिन्दी और राजस्थानी। राजस्थानी विभाग में २१ गीतिकाएं और कुछ सोरठे आदि छन्द हैं जिनके २७७ पद्य हैं। विशेष जानकारी के लिए पुस्तक दृष्टव्य है।

### (२) मोच्छब री ढाळां

तेरापंथ संघ में ३ महोत्सव (पट्टोत्सव, चर्मोत्सव और मर्यादा महोत्सव) अपना विशेष महत्व रखते हैं। प्रस्तुत कृति में चर्मोत्सव और माघोत्सव पर गाई गई २६ गीतिकाएं हैं जिनमें ५९० गाथा तथा १३ कवित्त हैं। इनमें अनुप्रास और सन्देश अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में ‘आचार्य भिक्षु’ के प्रति कहे गये एक कवित्त का अवलोकन कीजिए—

‘विश्व की विभूति थी क संभू की सवूनी  
किवा मूर्ति मजबूती थी मनोज के किनार  
में ।

कठिन कर्ति थी कठोर कलिकाठ हेत  
मार बिन नूति थी कुनीति के प्रचार में ॥

रंग रजपूती कहीं जंग बिच थी क  
प्राणों की अहूती थी विराम या गवार में ।

कहीं करतूती नहीं कल्पना अहूती एक छेक

मति छेक शुक्ल सूति के दिदार में ॥

## (३) संत-सती गुण वर्णन

इस कृति में अपनी साधना को सानंद संपन्न करने वाले कुछ विशेष साधु-साधवियों के यशस्वी जीवन-वृत्त को संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त करने वाली २४ ढाळें हैं, जिनमें २८० गाथा तथा ३० सोरठे हैं। शब्दालंकार की दृष्टि से अनुप्रास और यमक का एक नमूना ‘बालमुनि कनक’ के प्रति कहे गये ‘सोरठे’ में अवलोकनीय है—  
“शिशुवय समय साध, हिम्मत राखरा हद  
करी ।  
निवडियो निरखाद ‘कनक’ कनक सौ टंक  
नों ।”

## (४) स्मृति पदावलि

इस शीर्षक के अन्तर्गत संकड़ों पद्य हैं, जिन्हें स्वर्गीय साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं की स्मृति के रूप में कहा गया है। ये बिखरे हुए हैं अतः इनकी पूरी संख्या बताना अभी कठिन है।

## (५) पत्र

पत्र एक ऐसा माध्यम है जिसमें व्यक्ति के मानस का प्रतिबिम्ब तो मिलता ही है साथ ही साथ सम-सामयिक परिस्थितियां और इतिहास की भी काफी अलभ्य सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इस दृष्टि से आचार्य श्री के अनेक पत्रों को लिया जा सकता है। राजस्थानी भाषा में लिखे गये इन पत्रों की संख्या १५० से अधिक है। ये समय समय पर अपने संयमी संदेशवाहकों के साथ भेजे गये हैं। इनमें मंत्री मुनि मगन-लालजी, साध्वी-प्रमुखा महासति लाडांजी तथा मातुश्री वदनांजी को लिखे गये पत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। संघीय दृष्टि से

इनका बहुत महत्व है।

## (६) स्फुट

ऊपरवर्णित कृतियों के अतिरिक्त समय समय पर स्फुट रचनाएं भी काफी मात्रा में होती रही हैं, उनमें विविध सामग्री है, मैंने उन्हें स्फुट वर्ग के अन्तर्गत संकलित किया है—

(१) शासन-इड़ावणी—इसमें संघ के विधि-विधानों पर प्रकाश डालते हुए दृढ़ता से उन्हें आचरण करने की प्रेरणा दी गई है। इसकी १ ढाळ में २२ पद्य हैं।

(२) तप-विदारुवलि—इसमें संवत् १६६६ बीदासर तथा १६६७ लाडनू चातुर्मास काल में होने वाली तपस्याओं का

पूरा लेखा जोखा है। इसकी २ ढालों में २६ पद्य हैं।

(३) पावस विवरण—इसमें सं. २०१५ कानपुर तथा २०१७ राजसमंद के पावस-प्रवास में होने वाले विभिन्न कार्यों का संक्षिप्त विवरण है। इसकी २ ढालों में ३२ पद्य हैं।

यह है संक्षेप में आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी कृतियों का विवरण। भाव, भाषा, रस और अलंकार, स्वर और रागिनी आदि विभिन्न दृष्टियों से समृद्ध यह साहित्य राजस्थानी भाषा के इतिहास में एक नई शृंखला जोड़ेगा ऐसा दृढ़ विश्वास है।

## संदर्भ

- १ श्रद्धेय के प्रति—पृष्ठ ११७,
- २ कालू यशोविलास उल्लास ढाल-१ १, २ ३, ५, ८
- ३ कालू यशोविलास उल्लास-३ ढाल १७, २५, २७
- ४ कालू यशोविलास
- ५ कालू यशोविलास उल्लास २ ढाल ५/४-८
- ६ " " ४ ढाल १४ गाथा २-५
- ७ डालिम चरित्र-खण्ड १ ढाल १३ गाथा १४=१६
- ८ डालिम चरित्र खण्ड १ ढाल १३ गाथा १८-२०
- ९ " " " २ " १ गाथा २६-३३
- १० माणक महिमा, ढाल १ गाथा ८-१३
- ११ मगन चरित्र प्रथम युग
- १२ मगन चरित्र प्रथम युग
- १३ मगन चरित्र प्रथम युग
- १४ मगन चरित्र प्रथम युग
- १५ मगन चरित्र प्रथम युग
- १६ मगन चरित्र प्रथम युग

- १७ छोर्गांजी रो छवढाळियो ढाळ प्रथम दूहा ३  
 १८ राजर्षि उदाई ढाल ८ गाथा १, ५, ७, ९, ११  
 १९ गजसुकुमाल ढाल १ गाथा ३-६  
 २० शालिभद्र और धन्नजी ढाल २, गाथा १, २  
 २१ भावदेव नागला ढाल २ गाथा २६-२८  
 २२ सनत्कुमार चक्रवर्ती ढाल २ गाथा १, २, ५  
 २३ अनाथी ढाल २ गाथा १-३  
 २४ विजय विजया ढाल १ गाथा १०, ११  
 २५ दक्षिण यात्रा द्वितीय चरण  
 २६ " " " "  
 २७ " " " "  
 २८ दक्षिण यात्रा द्वितीय चरण  
 २९ दक्षिण यात्रा तृतीय चरण  
 ३० " " " "  
 ३१ दक्षिण यात्रा तृतीय चरण ।



# प्राकृत साहित्य का हिन्दी साहित्य के विकास में योगदान

डॉ. कुसुम पटोरिया

भारतवर्ष में भावात्मक एकता की समस्या एक उबलन्त समस्या है। विगत दशकों में देश में घटित विच्छेदवादी प्रवृत्तियाँ हमारी अखण्डता की दरारों को निदर्शित करती हैं। भाषागत वैमनस्य इन विच्छेदवादी प्रवृत्तियों का पोषक रहा है। व्याकरण की जटिलता और रूपाधिक्यता के कारण संस्कृत को राष्ट्रभाषा के महनीय पद पर अभिषिक्त नहीं किया गया। अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा को इस सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित करना एक स्वतन्त्र व स्वाभिमानी राष्ट्र के लिये अपमानजनक है। अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में अधिक सम्पन्न, सुविकसित तथा बहुभाषित होने के साथ-साथ हिन्दी के व्याकरण की सरल प्रकृति भी इसे राष्ट्रभाषा पद पर अभिषिक्त होने की पात्रता प्रदान करती है। परम्परागत रूप

से भी भारत के मध्यदेश की भाषा ही परिनिष्ठित और सर्वमान्य भाषा रही है। इस परम्परा को भी दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रप्रेमी नेताओं ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के महनीय पद पर अभिषिक्त किया है।

हिन्दी भाषा पर यह आरोप लगाया जाता है कि हिन्दी का शब्दसामर्थ्य सीमित है, उसमें भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है। यह आरोप निराधार है, क्योंकि हिन्दी संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है और संस्कृत विश्व की सर्वाधिक सम्पन्न भाषा है, इसमें अर्थगाम्भीर्य की सामर्थ्य प्रचुरमात्रा में है। हिन्दी के शब्दों का विभाजन तत्सम, तद्भव और रूढ़ तीन भागों में है। तत्सम शब्द संस्कृत से सीधे आकर अविकृत रूप में संस्कृत को अलंकृत कर रहे हैं। तद्-

भव शब्द मूलतः संस्कृत के हैं पर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मार्गों से उनके रंग में रञ्जित होकर अपना परिवर्तित रूप लेकर हिन्दी के समक्ष आ खड़े हुये हैं। वृद्ध शब्द विदेशी भाषा के शब्द हैं या स्वतन्त्र देशी शब्द। इनकी संख्या अत्यल्प है।

हिन्दी की तत्सम शब्दावली के ज्ञान के लिये जहाँ संस्कृत का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ उसकी तद्भव शब्दावली के ज्ञान के लिये प्राकृत का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। हिन्दी के ऐसे शब्द जिनका संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है वे प्राकृत भाषा में मिलते हैं जैसे चुल्हीह (चूल्हा), उत्थल्ल (उथल), उल्लुट (उलटा), उड्डि (उड़द), ओड्डण (ओढ़नी), खड्डा (गड्डा), खड्डकी (खिड़की), खाइया (खाई), भुट्ट (भूठ), चाउला (चावल), घघर (घाघरा), भ्रमाल (भ्रमेला) भाड़, ढकणी (ढकनी), तग्ग (तागा) आदि।

प्राकृत साहित्य ने हिन्दी साहित्य को भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से विकसित किया है। प्राकृत चरित-काव्यों ने हिन्दी का पथ-प्रदर्शन किया। प्राकृत सिरिचिंध कव्व, सोरिचरित, उसाणिसद्ध, कंसवहो आदि में वर्णित कृष्णकथा को भक्ति और रीतिकालीन कवियों ने विस्तृतरूप में ग्रहण किया। ऐतिहासिक कथा-वस्तुओं में अजातशत्रु और उसके सौतेले भाइयों की कथा तथा कन्नौज नरेश के वध की कथा भी प्राकृत से हिन्दी में गृहीत कथानक है। जायसी के पद्मावत का उपजीव्य तो प्राकृत का रयणसेहरनिवकहा ही है। इसके अतिरिक्त सूफी कवियों के समस्त प्रेमाख्यानक काव्य प्राकृत की प्रेम कथाओं से प्रभावित हैं। इस विषय में डा. बाहरी का कथन द्रष्टव्य है—'हिन्दी में

सूफी-साहित्य के सारे के सारे कथानक प्राकृत साहित्य से उद्भूत जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त भी जो प्रेमाख्यान हिन्दी में हैं, उनकी शैली पर प्राकृत का प्रभाव है।'

वसुदेवहिण्डी, पउमचरिय आदि चरितकाव्यों के आधार पर ही हिन्दी के रासोकाव्य की सर्जना हुई है।

काव्यरूपों के अन्तर्गत चरितकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, गीत और पद-परम्परा हिन्दीसाहित्य को प्राकृत साहित्य की देन है। पूर्वजन्म, अलौकिक घटनाएं, प्रकृति चित्रण तथा नगर-दुर्ग आदि स्थानों के वर्णन की परम्परा प्राकृत से ही हिन्दी में आई है। अपभ्रंश ने इन सभी प्रवृत्तियों को अपनाया और उसी से प्रभावित होकर हिन्दी में वीरसिंहदेवचरित, रामचरित, बुद्धचरित, सुजानचरित और मुदामाचरित आदि अनेक चरितकाव्यों की रचना हुई।

मुक्तक रचना का सर्वाधिक लोक-प्रिय रूप है सतसई-परम्परा। हिन्दी की सतसई परम्परा का श्रेष्ठतम ग्रन्थ बिहारी सतसई है। बिहारी सतसई का सूक्ष्म परीक्षण करने से स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि बिहारी ने गाहासतसई को आदर्श मानकर अपनी सतसई की रचना की थी। भाव, भाषा, अभिव्यंजना शैली सभी दृष्टि से प्रत्येक क्षेत्र में यह गाहासतसई से प्रभाविन और प्रेरित है। गाहासतसई की भांति यह भी बहुविषयक होते हुये भी शृंगारप्रधान है। गाहासतसई का शृंगारवर्णन यथार्थमूलक है, बिहारी सतसई में शृंगार का मुक्त वर्णन है। कहीं कहीं तो गाहासतसई की गाथा बिहारीसतसई के दोहों में अद्भुत समता है।

भावसाम्य, शैलीसाम्य तथा उपमानसाम्य का एक उदाहरण दर्शनीय है—  
जाबणकोस विकास पावइ ईसीसि मालई-  
कलिआ ।  
मअरन्द जाण लोहिल्लं भमर तावच्चिअ  
मलेसि ॥

बिहारी का प्रसिद्ध दोहा इसी का भावानुवाद है—  
नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकास  
इहि काल ।  
अली कली ही मो बंध्यो आगे कौन हवाल ॥

भक्त कवियों के पद तथा मुक्तक प्राकृत से ही प्रभावित हैं । न केवल काव्यरूप कहीं कहीं तो अद्भुत भावसाम्य पाया जाता है ।

उत्तराव्ययन की यह गाथा कि सिर मुंडन से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार से कोई ब्राह्मण नहीं होता, न कोई अरण्यवास से मुनि होता है और न कोई कुशचीवर धारण करने से तपस्वी होता है—  
कबीर के इस दोहे में व्यक्त हुई है—  
केसन कहा बिगारिया, जो मूडों सो बार ।  
मन को क्यों नहीं मूडिये जा में विषय-  
विकार ॥

प्राकृत की कथानक-रूढ़ियां भी साहित्य में हिन्दी उपलब्ध हैं । पुनर्जन्म, योनि-परिवर्तन, स्वप्न, स्वर्ग-नर्क, परीलोक, समुद्र-

विजय, आत्मघात, मूच्छा, कर्मगति, उपदेशग्रहण तथा तन्त्र-मन्त्र आदि रूढ़ियां हिन्दी में प्राकृत से ही आयी हैं । पद्मावत का हीरामन सुआ, सिंहलद्वीप, समुद्र में तूफान आना प्राकृत ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम दृष्टिगत होते हैं ।

प्राकृतचित्रण में षड् ऋतु वर्णन प्राकृत से प्रभावित है । प्राकृत-काव्यों में षड् ऋतु वर्णन आवश्यक रूप से वर्णित है । यद्यपि षड् ऋतु वर्णन की परम्परा प्राचीन संस्कृत में भी प्राप्त होती है, तथापि हिन्दी में इसका बहुलता से वर्णन प्राकृत के प्रभाव को द्योतित करता है ।

प्राकृत ने जहाँ एक ओर संस्कृत के परम्परागत छंदों को अनाया, वहीं दूसरी ओर लोककाव्य से मात्रिक, और तालवृत्तों को भी ग्रहण किया । गाहा, चौपाई, आर्या, स्कन्धक, पद्धडिया प्राकृत के प्रमुख छंद हैं । प्राकृत के घत्ता और हिन्दी के दोहा में बहुत साम्य है । इसी प्रकार प्राकृत के चौपाई और आर्या को भी हिन्दी कवियों ने स्पृहापूर्वक ग्रहण किया है ।

प्राकृत के इस बहुविध उन्नत साहित्य ने हिन्दी को वस्तुचयन, वस्तुसंगठन, कथानक रूढ़ि, काव्यरूप, छन्द, अलंकार, शब्दभंडार आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित और सम्पन्न किया है ।

○ ○

# पउमचरिय की अंजना पवनंजय कथा तथा अभिज्ञान शाकुन्तल का तुलनात्मक अध्ययन

डा. रमेशचन्द्र जैन

कवि कुलगुरु कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक संस्कृत नाटकों में सर्वोपरि है। इसका मूलस्रोत महाभारत की दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा है। कालिदास ने इस कथा को नाटकीय ढंग से सजाया है। नाटकीय व्यापारों को और अधिक गति देकर प्रभावोत्पादक बनाने हेतु कवि ने मूलकथा में बहुत से परिवर्तन किए हैं। महाभारत की मूलकथा के अनुसार एक बार चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्त शिकार खेलता हुआ कण्व के आश्रम के पास पहुँचा। वहाँ अपनी सेना को रोककर वह कण्व ऋषि के दर्शनार्थ आश्रम में गया। ऋषि फल लाने के लिए वन में गये हुए थे। राजा का स्वागत कण्व की धर्मपुत्री शकुन्तला ने किया। राजा उस पर अनुरक्त हो गया और उसके सामने गान्धर्व विवाह का प्रस्ताव रखा।

शकुन्तला ने इस शर्त पर विवाह किया कि उसका पुत्र ही युवराज और राज्य का उत्तराधिकारी होगा। राजा ने वचन देकर उसके साथ गान्धर्व विवाह किया। कुछ समय वहाँ रहकर वह चला गया और शकुन्तला को बाद में बुलाने का वचन देकर वह राजधानी लौट गया। बाद में ऋषि के क्रुद्ध होने के भय से उसने सेना नहीं भेजी। महर्षि जब आश्रम में आए तो तपोबल से सारी घटना जानकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। आश्रम में शकुन्तला के पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सर्वदमन रखा। पुत्र जब छः वर्ष का हो गया तो ऋषि ने शकुन्तला को तपस्वियों के साथ राजा के पास भेजा। राजा ने सब कुछ जानते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया। शकुन्तला जाने लगी। इसी समय आकाशवाणी हुई कि शकुन्तला तेरी पत्नी है और यह बालक



तेरा पुत्र है तू इसकी रक्षा कर । पुरोहित और मन्त्रियों की सम्मति से राजा ने उन्हें स्वीकार कर लिया । राजा ने लोगों से कहा कि मुझे सब वृत्तान्त स्मरण था किन्तु शकुन्तला की शुद्धि के लिए मैंने ऐसा किया ।

अभिज्ञान शाकुन्तल में यह कथा कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है, जो इस प्रकार है : राजा अकेला ही आश्रम में पहुँचा । सेना पीछे छूट गई । मूलकथा में वह सीधे आश्रम में पहुँचता है और वहाँ शकुन्तला उसका सत्कार करती है । शाकुन्तल में राजा शकुन्तला और उसकी सखी प्रियंवदा और अनसूया को वृक्षमिचन करते हुए देखता है । वहाँ शकुन्तला को देखकर वह उसके प्रति अनुरक्त होता है और उन सबकी बातें वह पेड़ की ओट से सुनने लगता है । मूलकथा में सेना आश्रम के बाहर लम्बे समय तक रुकी रहती है । शाकुन्तल में पीछे छूटी हुई सेना राजा को ढूँढ़ते यहाँ आती है । मूलकथा में स्वयं शकुन्तला अनेक बातों का उत्तर देती है । शाकुन्तल में सखियाँ उत्तर देती हैं और शकुन्तला को यहाँ मुग्धा, लज्जाशील, मितभाषी और मनोहर चित्रित किया गया है । मूलकथा में विवाह के लिए पुत्र को राज्य देने की शर्त है शाकुन्तल में ऐसी कोई शर्त नहीं । यहाँ राजा जाने से पूर्व स्मृतिचिन्ह स्वरूप शकुन्तला को अंगूठी दे जाता है । मूलकथा में अंगूठी की कथा का पूर्णतया अभाव है । शाकुन्तल में दुर्वासा ऋषि आते हैं, शकुन्तला दुष्यन्त का स्मरण कर रही है । वह ऋषि के आगमन को नहीं जान पाती अतः वे शाप दे देते हैं । मूलकथा में शाप की

कथा नहीं है । शाकुन्तल में कण्व ऋषि आते ही तपोबल से विवाह की सारी घटना जानकर तपस्वियों के साथ शकुन्तला को पतिगृह भेज देते हैं । महाभारत में जब पुत्र छः वर्ष का हो जाता है तब लोकापवाद के भय से मुनि शकुन्तला को पतिगृह भेजते हैं । शाकुन्तल में शकुन्तला के साथ शार्ङ्गरव, शारद्वत और गौतमी जाते हैं । महाभारत में गौतमी नहीं जाती । शाकुन्तल में राजा शाप के कारण शकुन्तला को नहीं पहचान पाता । महाभारत में राजा विवाह की सारी बात स्मरण रखते हुए भी शकुन्तला को अस्वीकार कर देता है । शाकुन्तल में धीवर को अंगूठी मिलाना, अंगूठी मिलने पर शाप की समाप्ति होने से राजा का दुःखी होना, धनमित्र व्यापारी के मरने का समाचार और अपुत्रता के कारण राजा का चिंतित होना, राजा का राक्षसों के वध के लिए जाना आदि घटनार्यें मिलती हैं, जो महाभारत में प्राप्त नहीं होतीं । अभिज्ञान शाकुन्तल से ही मिलती जुलती अंजना पवनजय कथा विमलसूरि के पउमचरिय में मिलती है । यह कथा इस प्रकार है—

भारतवर्ष के छोर पर दक्षिण दिशा में सागर के समीप दन्ती नामका पर्वत है । वहाँ राजा महेन्द्र ने महेन्द्रनगर बसाया । राजा के एक अंजनासुन्दरी नामक कन्या थी । जब वह कन्या यौवनवती हुई तो उनके विवाह के विषय में राजा ने मन्त्रियों से सलाह की कि यह कन्या रावण को दी जाय अथवा रावण के मेघवाहन या इन्द्र-जित आदि पुत्रों को दी जाय । यह सुनकर भूमति मंत्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा।

कि इसे रावण को नहीं देना चाहिए; क्योंकि वह अनेक युवतियों का स्वामी है। यदि इन्द्रजित् को दी जायगी तो मेघवाहन बिगड़ उठेगा और मेघवाहन को दी जाती है तो इन्द्रजित् रुष्ट होगा। अतः वैताह्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा हरिणाम के विद्युत्प्रभ नामक पुत्र को यह कन्या दी जानी चाहिए। यह सुन सन्देहपारग नामक मंत्री ने कहा कि यह विद्युत्कुमार मोक्षपथ पर प्रयाण करने वाला है। एक मंत्री ने कहा कि आदित्यपुर में प्रह्लाद नामक एक विद्याधर है उसके पवनञ्जय नामक यशस्वी पुत्र को यह कन्या दी जाय। एक बार फाल्गुन मास में प्रह्लाद नन्दीश्वर द्वीप गया। वहाँ पर उसकी प्रह्लाद से भेंट हुई। विचार-विमर्ष के बाद प्रह्लाद ने अपने पुत्र के साथ अजना सुन्दरी के विवाह की स्वीकृति दे दी। दोनों का विवाह तीसरे दिन मानसरोवर के तट पर करने का निश्चय हो गया। तीन दिन में विवाह का निश्चय होने पर भी कन्या दर्शन के अभिलाषी पवनञ्जय के लिए वे दिन बिताने असह्य हो गए वह काम से व्याकुल हो गया। उसने अपना अभिप्राय अपने मित्र प्रहसित पर प्रकट किया। प्रहसित ने कहा कि आज ही अंजनासुन्दरी के दर्शन कराता हूँ। वे दोनों आकाश मार्ग से गए और महल की सातवीं मंजिल में प्रवेश करके उन्होंने अंजनासुन्दरी को देखा। उसके रूप को देखकर पवनञ्जय विस्मित हो गया। इसी बीच कन्या की वसन्ततिलका नामक सखी ने कहा कि तू धन्य है जो कीर्तिशाली पवनवेग को दी गई है। वहाँ उपस्थित दूसरी सखी मिश्रकेशी ने कहा कि तू मूढ

है जो गुणों के निधान, धीर और चरम शरीरी विद्युत्प्रभ को छोड़कर पवनञ्जय की प्रशंसा करती है। इस पर वसन्ततिलका ने कहा कि वह अल्पायु है। तब मिश्रकेशी ने कहा कि विद्युत्प्रभ के साथ एक दिन का प्रेम भी अच्छा है किन्तु कुपुरुष के साथ दीर्घकाल तक हो तो वह अच्छा नहीं है। यह सुनकर पवनगति घर से निकल गया और सबेरे नगर की ओर जाने लगा। प्रह्लाद ने उसे समझाया। गुरुजन के आदेश का उल्लंघन कर पाने के कारण उसने विवाह करना स्वीकार कर लिया किन्तु मन में सोच लिया कि पाणिग्रहण करके परित्याग कर दूंगा। विवाह हो गया। पवनञ्जय ने निर्दोष अजना का परित्याग कर दिया। अंजना ने बहुत अनुनय विनय की किन्तु वह न माना। इसी बीच रावण और वरुण में युद्ध हुआ जिसमें पवनञ्जय रावण की सहाय्यार्थ गया। सध्या के समय भवन के गवाक्ष में से उसने सुन्दर सरोवर देखा। वहाँ प्रिय के विरह से दुःखी चकवी को देखकर पवनञ्जय को अजना की याद आई। वह अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप करने लगा। अपने मित्र प्रहसित के साथ उसी रात वह अजना सुन्दरी के महल में गुप्त रूप से आया और अंजना गर्भवती हो गई। जब पवनञ्जय जाने लगा तो अजना ने अपनी आशंका व्यक्त की कि कहीं लोग मुझे दुराचारिणी न समझे अतः माता पिता वगैरह से मिलकर जाओ इस पर पवनवेग ने अपने नाम से अंकित अंगूठी उसे दे दी और पुनः अपने पड़ाव पर पहुँच गया। इधर सास ने अंजना को दुश्चरित्र समझ उसे सखी के साथ महेन्द्रनगर

भेज दिया। महेन्द्रनगर से राजा महेन्द्र ने भी उसे बाहर निकलवा दिया। अंजना अपनी सखी के साथ वनों में भ्रमण करने लगी। वहाँ उसकी अमितगति मुनिवर से भेंट हुई। मुनि ने उसका पूर्वभव सुनाया कि उसने पूर्वभव में जिनप्रतिमा को उठाकर घर से बाहर रख दिया था, उसी कर्म का यह परिणाम है। समय आने पर अंजना ने पुत्र प्रसव किया। एक बार जब अंजना विलाप कर रही थी तब उसका विलाप सुन एक विद्याधर आकाशमार्ग से नीचे आया वह उसका। मामा प्रतिसूर्यक था। प्रतिसूर्यक उसे अपने घर ले चला। विमान में किकनी के समूह को देखकर बालक उछला और पहाड़ की शिला पर जा गिरा। अंजना प्रतिसूर्यक के साथ नीचे उतरी और शिला पर अक्षत शरीर वाले बालक को आन्नद-विभोर हो उठा लिया।

पवनंजय जब विजय प्राप्त कर वापिस लौटा तो अंजना को न देख मित्र से पूछकर वह महेन्द्रनगर गया। वहाँ भी अंजना को न पा वह विरहाग्नि से जलता हुआ इधर-उधर भटकने लगा। उसने मित्र को आदित्यपुर भेज दिया और स्वयं मरने का निश्चय कर लिया। प्रह्लाद ने प्रतिसूर्यक से समाचार सुनकर जगह जगह अपने दूत भेजे। प्रतिसूर्यक के द्वारा अंजना का वृत्तान्त ज्ञात हुआ। वे सब पवनंजय के पास गए। अन्त में पवनंजय और अंजना का मिलाप हुआ। उनका पुत्र जिसका नाम श्रीशैल अथवा हनुमान रखा था, दिनोदिन बढ़ने लगा।

अभिज्ञान शाकुन्तल और पउमचरिय की कथा का सूक्ष्मता से अध्ययन करने

पर बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है।

१. दुष्यन्त अकेला आश्रम में पहुँचता है। पवनंजय अपने प्रहसित मित्र के साथ अंजना के भवन में पहुँचता है। शाकुन्तल में दुष्यन्त का सखा विदूषक बाद में मिल जाता है, जिसे वह सारी आपबीती सुनाता है।

२. दोनों कथाओं में नायिका और उसकी दो सखियों की आपस में बातचीत होती है और नायक उसे छिपकर सुनता है। शाकुन्तल में अकेला राजा छिपकर बातें सुनता है। पउमचरिय में पवनंजय के साथ उसका मित्र प्रहसित भी है।

पउमचरिय में नायिका के गुराँों के कारण बिना देखे ही नायक उसे देखने या उससे मिलने के लिए उत्कण्ठित हो जाता है। शाकुन्तल में राजा जब शकुन्तला को देखता है तब वह उसके प्रति आकर्षित हो जाता है और उसे पाने की स्पृहा करता है।

शाकुन्तल में नायिका मुग्धा, लज्जाली, मितभाषी और मनोहर है। ठीक यही बात पउमचरिय की अंजना में दृष्टिगोचर होती है।

दोनों कथाओं में नायक नायिका को अपने नाम से अङ्कित अंगूठी अभिज्ञान के रूप में देता है।

शाकुन्तल में नायक और नायिका दोनों के मिलने में दुर्वासि का शाप बाधक है। जैन धर्म में इस प्रकार के शाप को कोई स्थान नहीं है अतः पउमचरिय में नायिका से नायक का मिलन न होने का कर्म है। यह कारण पूर्वजन्म का कर्म का बन्ध जिनप्रतिमा को बाहर रखने से हुआ था।

शाकुन्तल में धीवर से अंगूठी प्राप्त होने पर राजा को शकुन्तला की याद आती है और यहीं शाप की समाप्ति होती है। पउमचरिय में प्रिय से बिछुड़ी चकवी को देखकर पवनंजय को अंजना की याद आती है।

शाकुन्तल में दुष्यन्त राक्षसों से युद्ध करने के लिए जाता है। पउमचरिय में पवनंजय राजा वरुण से युद्ध करने के लिए जाता है।

शाकुन्तल में पति द्वारा परित्यक्त शकुन्तला मारीच ऋषि के आश्रम में है। पउमचरिय में सास द्वारा परित्यक्त निवास करती शकुन्तला वन में किसी गुफा में निवास करती है वहाँ उसे मुनि अमित-गति के दर्शन हुए।

दोनों कथाओं में गर्भधारण के अनन्तर पुत्रोत्पत्ति के बाद नायक नायिका का मिलन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिज्ञान शाकुन्तल में महाभारत की मूलकथा में जो परिवर्तन किए गए हैं, उनमें से बहुत कुछ पउमचरिय की अंजना पवनंजय की कथा में मौलिक रूप में मिलते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दोनों ग्रन्थों में से किसका किस पर प्रभाव पड़ा। जहाँ तक कालिदास का सम्बन्ध है उनका काल ईस्वी पूर्व प्रथमशती से लेकर ११ वीं शती तक खींचा जाता है। कुछ भी हो पूर्ववर्ती और परवर्ती उल्लेखों से यह सुनिश्चित है कि उन्हें चौथी सदी ईस्वी से बाद का सिद्ध नहीं किया जा सकता।<sup>१</sup> पउमचरिय के उल्लेखानुसार विमलसूरि ने बीर नि. सं. ५३० या विक्रम सं. ६० के लगभग पउमचरिय की रचना की।<sup>२</sup>

यह उल्लेख होते हुए भी पउमचरिय की रचना के विषय में लोगों को विवाद है। डा. हर्मन जैकोबी उसकी भाषा और रचनाशैली पर से अनुमान करते हैं कि वह ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी की रचना है।<sup>३</sup> डा. कीथ<sup>४</sup> डा. बुलनर<sup>५</sup> आदि इसे ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग या उसके बाद की रचना मानते हैं; क्योंकि उसमें दीनार शब्द का और ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी कुछ ग्रीक शब्दों का उपयोग किया गया है। दी. ब. केशवराव ध्रुव उसे और भी अर्वाचीन मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रत्येक उद्देश के अन्त में जो गार्होपाय शरम आदि छन्दों का उपयोग किया गया है वह उन की समझ में अर्वाचीन है। गीति में यमक और सगन्ति विमल शब्द का आना उनकी दृष्टि में अर्वाचीनता का द्योतक है।<sup>६</sup> डा. विन्टरनित्ज, डा. लायमन आदि विद्वान् बीर नि. ५३० को ही पउमचरिय का रचनाकाल मानते हैं।<sup>७</sup> उद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला में जो वि. सं. ८३५ में समाप्त हुई थी विमल<sup>८</sup> के विमलांक और रविषेण के पद्यचरित<sup>९</sup> की सराहना की है। इससे निश्चित रूप से इतना तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि पउमचरिय वि. सं. ८३५ से पूर्व की रचना है, किन्तु उससे ठीक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता कि पउमचरिय की रचना की सही तिथि क्या है। कालिदास और विमलसूरि दोनों के समय का सही निर्धारण न पाने के कारण अभिज्ञान शाकुन्तल और पउमचरिय दोनों में से किस पर किसका प्रभाव है इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। जहाँ तक कथा का सम्बन्ध है अंजना, पव-

नंजय और हनुमान की कथा बहुत पुरानी है। विमलसूरि ने पउमचरिय को नामावलीनिबद्ध और आचार्यपरम्परागत कहा है और इसका मूलस्रोत केवलज्ञानी जिनेश्वर और गणधरों को बतलाया है।<sup>१०</sup> रविषेण ने अपने पञ्चचरित (जिसमें अजना पवनंजय की कथा आती है) में भी अपने पूर्वाचार्यों की सूची दी है और कथा को सर्वप्रथम भगवान महावीर द्वारा कहा हुआ बतलाया है।<sup>११</sup> इस प्रकार इस कथा की प्राचीनता स्वतःसिद्ध

होती है। इसी प्रचलित अंजना पवनंजय की कथा से उपादान ग्रहण कर कालिदास ने महाभारत में प्रचलित शकुन्तला-दुष्यन्त की कथा को परिमार्जित कर नाटकीयता के योग्य तत्त्वों को भरा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा में मूलकथा की अपेक्षा जो परिवर्तन किए गए हैं उन सभी परिवर्तनों के तत्त्व अंजना पवनंजय की कथा में किसी रूप में अधिकांशतया आते हैं।

## संदर्भ

- १ भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि दर्शन पृ. ७६-८०
- २ पंचेव वासया दुसमाए तीसवरस संजुत्ता ।  
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ पउमचरिय  
(जैन साहित्य और इतिहास पृ. ८७)
- ३ एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड ईथिक्स भाग ७ पृ. ४३७ और माडर्न रिव्यू दिस. सन् १९१४
- ४ कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास
- ५ इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत
- ६ जैन साहित्य और इतिहास पृ. ९१
- ७ वही पृ. ९१
- ८ जारसियं विमलंको विमलंको तारिसं लहद् अत्थं ।  
अमयभइयं च सरसं सरसं चि य पाइअं जस्स ॥
- ९ जेहिं कए रमणिज्जे वरंग पउमाणचरिय वित्थारे ।  
कहव ग्ग सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो ॥
- १० नामावलीनिबद्धं आचार्यपरम्परागतं सर्वं ।  
वोच्छामि पउमचरियं अहारुपुत्विं समासेण ॥  
को वणिणऊण तीरद् नीसेसं पउमचरिय संबन्ध ।  
मोत्तूण केवलजिणं तिकालनाणं हवइ जस्स ॥  
जिणवरम्हाओ अत्थो जो पुत्विं निग्गओ बहुविपथो ।  
सो गणहरेहिघरिउं संरवेवबिणो य उवइ ट्ठो ॥

पउमचरिय १/८-१०

११ पञ्च. १/४१-४२



# रात्रि भोजन, एक मीमांसा

## साध्वी संजुला

जैन मुनि के लिए रात्रि भोजन निषिद्ध है। शास्त्रों में पांच महाव्रतों की भांति ही रात्रि भोजन विरमण रूप छट्टे व्रत का पालन मुनि के लिए आवश्यक है।

यह प्रसंग एक गहरी मीमांसा मांगता है, क्योंकि रात्रि भोजन और आत्म साधना का परस्पर क्या सम्बन्ध है? रात्रि भोजन को दोष क्यों माना गया है? क्या हिंसा, भूठ, चोरी आदि दोषों की तरह रात्रि भोजन से भी आत्मा मलिन होती है? क्या रात्रि भोजन के साथ हिंसा और संग्रह की निश्चित व्याप्ति है? मुनि के लिए हिंसा और संग्रह की दृष्टि से रात्रि भोजन त्याज्य है तो फिर श्रावक के लिए रात्रि भोजन प्रत्याख्यान का क्या अर्थ है? जबकि उसके रात्रि भोजन और दिवा भोजन से हिंसा, संग्रह आदि में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। मात्र व्यावहा-

रिक दोषों से बचने के लिए गृहस्थ को रात्रि भोजन प्रत्याख्यान कराया जाता है तो फिर साधु के लिए अनिवार्यता क्यों?

सूर्यास्त और सूर्योदय की भी सर्वत्र एकरूपता नहीं है। कुछ देशों में सूर्यास्त होता ही नहीं है। कुछ देशों में छः महीने रात और छः महीने दिन होते हैं। वहां रात्रि भोजन की क्या व्याख्या होगी।

कुछ शाश्वत तत्त्वों को छोड़कर हर वस्तु की उपादेयता और अनुपादेयता, श्रेष्ठता और निकृष्टता समय-सापेक्ष होती है।

रात्रि भोजन वर्तमान युग में फैशन, सभ्यता और कुलीनता का प्रतीक बन गया है। जबकि पुराने जमाने में यह म्लेच्छ, अनाथ और असभ्यों का आचार माना जाता था।

रात्रि भोजन किसी भी धर्म-ग्रन्थ में सम्मत नहीं है। किन्तु इसके पीछे सिद्धान्त क्या है, यह गवेषणा का विषय है।

जैन मुनि के लिए रात्रि - भोजन-परिहार का उल्लेख कई आगमों में हुआ है।

आवश्यक सूत्र में पांच महाव्रतों के अतिचारों की आलोचना के बाद छट्टे रात्रि-भोजन विरमण व्रत के अतिचार की आलोचना इस बात को सिद्ध करती है कि मुनि के लिए रात्रि भोजन अतिचार है।

दशवैकालिक सूत्र में मुनि के लिए पांच महाव्रतों की भांति ही रात्रि भोजन विरमण रूप छट्टा व्रत परिपालनीय बताया गया है।

आगमेतर ग्रन्थों में रात्रि भोजन वर्जन तथा रात्रि भोजन जनित दोषों के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। लेकिन वहाँ रात्रि भोजन के जितने कारण बताये गये हैं वे व्यावहारिक अधिक प्रतीत होते हैं। आत्म-हित से उनका कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

निशीथचूर्ण में रात्रि भोजन से उत्पन्न दोषों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि रात्रि में भोजन करने से छिपकली आदि जीव के अवयवों से मिश्रित भोजन खाया जा सकता है और उमसे पेट में छिपकलियाँ ही छिपकलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी तरह सर्प आदि विषैले जीवों की लाल, मल, मूत्र से मिश्रित भोजन खा लेने से नाना रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

रात्रि भोजन दोष वर्णन में यह भी बताया गया है कि अन्धेरे में चींटी मिश्रित

भोजन कर लेने से बुद्धि नष्ट हो जाती है। मक्षिका मिश्रित भोजन हो जाने से वमन शुरू हो जाता है। यूका आदि से मिश्रित आहार जलोदर को पैदा कर देता है। कोलिक मिश्रित आहार से कुष्ठ रोग उत्पन्न हो जाता है। बाल खाये जाने से स्वर भंग हो जाता है। कोई कटक, कीला या लकड़ी खाई जावे तो गले में अटक जाते हैं। भंवरों आदि जन्तु मुंह में जाकर तालु को बीध डालते हैं।<sup>1</sup>

ऊपर निर्दिष्ट कारणों से रात्रि-भोजन-वर्जन का आत्म-साधना के साथ सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और उन दोषों से जो अस्वास्थ्य पैदा होता वह आत्म-साधना में बाधक बनता है। उसका प्रकाश द्वारा निवारण किया जा सकता है। आज के युग के प्रचुर साधनों के समक्ष उपर्युक्त दोषों को अवकाश ही नहीं है।

ओष नियुक्ति में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि जो दोष रात्रि भोजन में हैं वे ही 'संकट मुख' में हैं और वे ही अन्धकारपूर्ण दिन में भोजन करने में हैं।

इससे भी यही लगता है कि रात्रि भोजन में अगर कोई दोष माना गया है तो वह अन्धकार की दृष्टि से ही और इस दृष्टि से अगर कोई विधान करना था तो रात्रि भोजन वर्जन की अपेक्षा अंधकार भोजन वर्जन होना चाहिए था। जबकि अन्धकारपूर्ण दिन में पहले लाई हुई वस्तु भोग में ली जाती है।

निशीथ भाष्य में रात्रि भोजन निष्पन्न दोषों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि रात्रि भोजन से रात में पात्र धोने

पड़ते हैं। उससे जलगत जन्तुओं का नाश होता है। भूमि पर पानी गिराने से पिपी-लिका आदि सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है।

रात्रि भोजन में जो दोष ऊपर बताये गये हैं इनका होना अनिवार्य नहीं है। पहली बात, आज के विज्ञान ने प्रकाश के ऐसे साधनों का आविष्कार किया है जिन से दिन में दिखने वाली वस्तुएं रात को न दिखें, ऐसी बात नहीं है। असावधानी-पूर्वक की गई क्रिया से तो क्या दिन और क्या रात, कभी भी हिंसा हो सकती है।

दूसरे में पात्र धोने पड़ें, ऐसी चीजें मानलाने न खाई जायें किन्तु सूखी चीजें तो खाई जा सकती हैं। यदि रात्रि भोजन का कारण पात्र धोने और पानी के गिराने से होने वाली हिंसा ही हो।

एक बात और है, जो सर्वज्ञ हैं उनके अन्धेरे और प्रकाश में क्या अन्तर पड़ता है? जबकि वे अपने ज्ञान से दिन के समान रात को भी देख सकते हैं। यदि कहा जाय कि रात को दिखने पर भी व्यवहार का लोप नहीं किया जा सकता तो तीर्थंकर कौन से सारे व्यवहार निभाते हैं?

रात्रि में इर्या समिति का शोधन नहीं होता अतः रात्रि भोजन वर्जित है तो फिर रात्रि भोजन विरमण ही न होकर रात्रि-विरहण भी होना चाहिए था। रात्रि भोजन की सदीषता को सिद्ध करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों में कुछ घटनाओं का संकेत मिलता है।

(१) कालोदाई नाम का भिक्षु एक ब्राह्मण के यहां रात को भिक्षार्थ गया। ब्राह्मण की पत्नी गर्भवती थी अंधेरे में न

दिखने के कारण वह किसी खम्भे से टकराकर गिर पड़ी और उसका गर्भ स्खलित हो गया। इससे उस साधु का बड़ा अपवाद हुआ।

(२) दूसरी घटना है एक औरत ने अपनी सौत के लड़के को मारकर दरवाजे के पीछे छोड़ दिया। रात का समय था। एक साधु भिक्षा के लिए आया। किवाड़ हिलाए। मृत बालक द्वार के बीच गिर पड़ा और उसके मारने का लांछन उम मुनि पर लगाया गया।

इन उपर्युक्त घटनाओं से रात्रि भोजन परिहार की कोई पुष्टि नहीं होती। हां! रात्रि गमन वर्जित हो सकता है। किन्तु दिन में लाए हुए भोजन को रात में करने से ये घटनाएं बाधक नहीं बनती हैं। दूसरे में असावधानी दिन में और रात में कभी भी हो सकती है। दिन में भी भिक्षार्थ जाते मुनि का किसी घटना विशेष से अपवाद होना संभव है।

रात्रि भोजन करने से संग्रह का दोष लगता है। अगर ऐसा मान लिया जाय तो दिन में भी तो सुबह का लाया गया आहार शाम को या दुपहर को काम में लिया जाता है, वहां संग्रह कैसे नहीं होगा? अगर वह संग्रह नहीं है तो फिर शाम को लाया गया रात को काम में लिया जाता है उसमें संग्रह कैसा? तीर्थंकर आदि जिनके मोह कर्म नष्ट हो गया, ज्ञान का पूरा प्रकाश है उनके लिए आसक्ति, संग्रह, हिंसा आदि का प्रश्न ही नहीं। फिर वे रात्रि-भोजन क्यों नहीं करते?

श्रावक जिनके न तो परिग्रह संग्रह का रात्रि भोजन से कोई सम्बन्ध है और न हिंसा, अहिंसा का विशेष अंतर है और



बाहर जाकर भिक्षा लाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी उत्तर गुण के रूप में श्रावक के लिए रात्रि भोजन वर्जन का विधान है, उसका क्या अर्थ होगा ? रात में भूमि पर रात्रिचर घूमते रहते हैं । अतः रात्रि में खाना खाने वाले को मंत्र आदि से छल लेते हैं । यह जो कथन है, मात्र ना-समझ व्यक्तियों से रात्रि भोजन छुड़ाने के लिए भय दिखाना है । हर युग के धर्म ग्रन्थों में कुछ ऐसे किस्से गढ़े हुए मिलते हैं जो लोगों को अहितकर या पापकारी प्रवृत्ति छुड़ाने हेतु, धर्म युक्त आचरण पनपाने के लिए भय और प्रलोभन का सहारा लेते हैं । वरना यह बात सही होंती तो आज भी कितने लोग रात्रि भोजन नहीं करते उनके कोई रात्रिचर क्यों नहीं छलते ।

वैदिक ग्रन्थों में रात्रि भोजन के परलोक भावी दुष्परिणाम का उल्लेख करते हुए बताया है "वहां अधिकतर भय और प्रलोभन ही झलकता है ।" रात्रि भोजन वर्जन का सही रहस्य क्या है ? यह समझ में नहीं आता । वहां बताया है कि "जो रात्रि भोजन करता है वह अगले जन्म में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, शम्बर, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोधा इत्यादि कुत्सित योनि में जाता है ।"२

वहीं सूर्यास्त से पहले भोजन करने वाला किस पुण्य का उपार्जन करता है, उसका भी स्पष्ट उल्लेख है । "एक बार भोजन करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ जितना फल पाता है और सूर्यास्त से पहले भोजन करता है वह तीर्थ यात्रा के फल को प्राप्त होता है ।"३ जब घर में किसी स्वजन की मौत हो जाती है तो कई दिन सूतक माना जाता है फिर भी दिवानाथ के अस्त होने

पर भोजन करना कहां तक उचित होगा ।४

वैदिक और बौद्ध साहित्य की भांति ही जैन साहित्य रात्रि-भोजन के निषेध में अग्रणी है । दशवैकालिक सूत्र में रात्रि-भोजन को अनाचार बताया गया है ।५ वहीं आगे कहा गया है कि सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय से पहले साधुमन से भी आहार आदि की कामना न करें ।६ मुनि रात को चार प्रकार के आहार का वर्जन करे, इतना ही नहीं, सन्निधि और संग्रह भी न करे ।७ दशवैकालिक में जो रात्रि भोजन का निषेध है उसके पीछे कारण बहिर्गमन जनित हिंसा को लिया गया है तभी तो कहा है कि उदकाद्र और बीज संसक्त भूमि पर दिन में भी चलना वर्जित है फिर रात को मुनि कैसे चले ? अतः उन सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से मुनि रात्रि भोजन का परिहार करे ।८

निशीथ सूत्र में रात्रि भोजन के चार विकल्प हैं और चारों के ही सेवन पर प्रायश्चित्त का विधान है । १. दिन में लिया दिन में भोगा । २. दिन में लिया रात में भोगा । ३. रात में लिया दिन में भोगा । ४. रात में लिया रात में भोगा ।

मुनि अकारण इन चारों ही विकल्पों का सेवन न करें । कारण में करे तो पहले की भांति दूसरा विकल्प भी शुद्ध है । मार्ग में जहां आहार आदि मिलने की संभावना न हो गीतार्थ साधु नवदीक्षित साधुओं को बिना जताए, जाते हुए सथवाड़े से रात को आहार ले ले । सूर्योदय के बाद उसको भोग ले, वह शुद्ध है । यदि सूर्योदय के बाद आहार मिलने की संभावना हो फिर भी सूर्योदय से पहले ले तो वह अशुद्ध है और प्रायश्चित्त का भागी है । फीड़े पर

मरहम पट्टी करने के लिए मधु घृत, गुड़ आदि रात को लेता हुआ मुनि शुद्ध है।

कारण में रात को लेना और खाना दोनों ही शुद्ध है।<sup>६</sup> ये सारे प्रसंग निशीथ भाष्य में बड़े विस्तार के साथ चर्चित हैं। रात्रि भोजन के ये निषेध, अपवाद और रात्रि भोजन परिहार के कारणों ने मिलकर एक बहुत बड़ा विसंवाद खड़ा कर दिया है। क्योंकि जिस कट्टरता से रात्रि भोजन का निषेध किया गया है उस निषेध के कारण उतने सशक्त नहीं हैं। उन करणों से रात्रि भोजन विरमण के साथ कोई गहरी व्याप्ति नहीं है और जो है, तो फिर इन अपवादों का कोई अर्थ नहीं है। दूसरे में जितने भी रात्रि भोजन निषेध के कारण हैं वे लगभग व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। व्यावहारिक दोषों को टालने के लिए इतना बड़ा प्रतिबन्ध करना पड़े, यह बुद्धिगम्य नहीं होता। एक बात और है जो व्यावहारिक दोष रात्रि भोजन से निष्पन्न होते हैं वे किसी जमाने में होंगे आज तो व्यवहारिक आपत्ति भी नहीं रही। रात्रि भोजन यदि हिंसा, मूठ की भांति आत्मा को मलिन करने वाला पाप है तो फिर अपवाद कैसा? इन सब तर्कों के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि जैन, बौद्ध वैदिक सभी धर्मों में रात्रि भोजन वर्जन का जो विधान है वह बड़ा वैज्ञानिक होना चाहिए। उसके पीछे छुट-पुट व्यावहारिक कारण नहीं है किन्तु बड़े गूढ़तम कारण हैं।

जैन आगमों में दशवैकालिक सूत्र में एक स्थान पर रात्रि भोजन वर्जन का एक बड़ा गहरा हेतु दिया है। वहाँ कहा गया है कि मुनि आत्म-हित के लिए रात्रिः भोजन वर्जन का सीधा सम्बन्ध आत्म

साधना से नहीं लगता पर वस्तुतः यह आत्म साधना का पहला सूत्र है। रात्रि-भोजन आत्म साधना में बाधक कैसे बनता है। इसकी गवेषणा करना है। रात्रि भोजन मूलतः स्वास्थ्य के लिए अहितकर है क्योंकि रात में खाया गया भोजन ठीक से पचता नहीं सूर्य की किरणों से जैसा भोजन का स्वाभाविक ढंग से परिपाक होता है, बिना सूर्य की किरणों के उसे पचाने में बड़ी शक्ति लगानी पड़ती है और अन्यान्य कृत्रिम साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। जो लोग रात को खाना खाकर घूमते फिरते हैं उनका भोजन फिर भी काफी अशों में पच जाता है। लेकिन जो लोग खाना खाकर लेट या बैठ जाते हैं, उनके बिना सूर्य की किरणों के वह खाना अध-पचा रह जाता है। ऐसा आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों से सिद्ध कर दिया है। आज के शरीर-शास्त्री, चिकित्सक लोग भी इस तथ्य को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। आयुर्वेद में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि सूर्य की किरणों के बिना खाया हुआ भोजन नहीं पचता क्योंकि सूर्य की किरणों के अभाव में हृदय और नाभि कमल का संकोच हो जाता है। आतें ठीक से काम नहीं करती। अतः रात में नहीं खाना चाहिए। दूसरे में सूक्ष्म जीवों का भी डर रहता है कि कहीं वे निगले न जायं।<sup>१०</sup>

जो खाना पचता नहीं है वह शरीर में नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। रोगग्रस्त व्यक्ति किसी भी कार्य क्षेत्र में असफल रहेगा और साधना से विचलित हो जाता है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख है 'भुंजसु सूरै जं जिज्जे' अर्थात् मुनि उतना ही खाय जितना सूर्य रहते

रहते जीर्ण हो जाय ।

निशीथ सूत्र में रात को भोजन करने वाले मुनि के लिए जैसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है वैसे खाए हुए आहार की उद्गार आ जाय और मुनि उसे निगल ले तो भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का प्रावधान है । सूर्यास्त पहले जीर्ण होने की बात और उद्गार के लिए प्रायश्चित्त का विधान इस बात को सूचित करता है कि रात्रि भोजन का वर्जन निश्चित ही भोजन अपरिपाक की दृष्टि से हुआ है जो कि साधना का सबसे बड़ा विघ्न बन सकता है और इससे साधु गृहस्थ वाली उलझन भी नहीं रहती क्योंकि बिना पचा आहार साधु और श्रावक सभी को रुग्ण बनाता है और साधना से स्थलित करता है । स्वास्थ्य ठीक रहने की स्थिति में ही साधना निर्विघ्न हो सकती है ।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में रात्रि भोजन के जो कुछ कारण बताए गए हैं जैसे—संग्रह दोष, हिंसा, जीवों के अवयव खाए जाने की संभावना, ये इतने सशक्त नहीं जितना सूर्यास्त के बाद खाना नहीं पचने वाला कारण पृष्ठ है, क्योंकि रात्रि भोजन के साथ जो उद्गार की बात है वह उन व्यावहारिक कारणों से किंचित भी सम्बन्धित नहीं है । उद्गार या तो अधिक खाने से आती है या खाना न पचने से आती है । इससे लगता है यहाँ नहीं पचने वाला कारण ही मुख्य है । निशीथ सूत्र में रात्रि उद्गार की भाँति दिवस उद्गार का भी प्रायश्चित्त बताया गया है ।

इससे स्पष्ट है कि रात्रि भोजन, रात्रि उद्गार, दिवस उद्गार आदि आहार अपरिपाक की दृष्टि से ही वर्जित हैं और

यह रात्रि भोजन निषेध साधु, श्रावक, तीर्थंकर आदि सभी के लिए समान रूप से घटित होता है । प्रासंगिक रूप से हिंसा, संग्रह लोक व्यवहार भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं ।

रात्रि भोजन निषेध की इस व्याख्या में अन्यान्य आपत्तियाँ भी निरस्त हो जाती हैं । साइबेरिया जैसे देशों में जहाँ छः महीने दिन, छः माह रात होती है, वहाँ रात्रिभोजन प्रत्याख्यान में कोई आपत्ति नहीं आती क्योंकि जब सूर्य विद्यमान रहता है तब रात्रि होती ही नहीं और सूर्य की किरणों के रहते नहीं पचने वाली बात भी नहीं है और छः महीने रात जहाँ रहती है वहाँ साधु का निवास तो मूलतः वर्जित है । गृहस्थ के लिए आपत्ति वाली बात नहीं है क्योंकि जहाँ छः महीने रात रहती है वहाँ भोजन पचने वाले साधनों की खोज अवश्य की गई होगी । दूसरे में हर प्रत्याख्यान द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव सापेक्ष होता है ।

प्रश्न हो सकता है कि सूर्यास्त होते ही एक क्षण में क्या हो जाता है? एक क्षण पहले खाया हुआ पच जाता है और एक क्षण पहले खाया गया नहीं पचता । इसका क्या अर्थ है ।

यद्यपि एक दो क्षण में कोई फर्क नहीं पड़ता फिर भी सीमा निर्धारण तो करना ही पड़ता है । सभी व्यक्ति समझदार, विवेकशील और स्वयं बुद्ध नहीं होते उनके लिए एक निश्चित सीमा बनानी पड़ती है । अधिकांश नियम व्यावहारिक सीमा निर्धारण के लिए किए जाते हैं क्योंकि नियम अधिकांश समूह के लिए बनते हैं । समूह चेतना कभी इतनी प्रबुद्ध नहीं होती अतः निश्चित रूप से कुछ सीमा-

रेखाएं खींचनी पड़ती हैं। यही कारण है कि रात्रि भोजन निषेध में चारों आहार वा, औषध पानी सभी का निषेध है जब कि न पचने के कारण अगर निषेध करना था तो केवल खाद्य या कुछ पेय चीजों का निषेध ही पर्याप्त था पर वैसा करने पर अपरिपक्व मुनि समझ लेते कि जब एक चीज खानी है तो दूसरी में क्या दोष है? फिर सभी चीजों का प्रयोग करने लग जाते इसलिए समयतया निषेध किया गया है लेकिन यह निश्चित है कि इस निषेध का आन्तरिक संबंध अपरिपाक जनित अस्वा-

स्थ्य और अस्वास्थ्य से निष्पन्न साधना को विघ्न से है। दिगम्बर श्रावक जो रात्रि भोजन का प्रत्याख्यान रखते हैं फिर रात में वे फल व दूध लेते हैं। इसका मतलब यही है कि दूध एवं फल हल्का भोजन होता है वह सूर्यास्त के बाद भी पच सकता है। सूर्यास्त के बाद अन्न आदि भारी भोजन न तो वे खुद करते हैं न शादी में आई हुई बारात आदि को ही देते हैं।

यह भी इसी बात को सूचित करता है कि रात्रि भोजन का वर्जन परिपाक और अपरिपाक की दृष्टि से हुआ है।

## सन्दर्भ

- १ मेहं पिब्वीलआओ हरांति वमणं च मच्छिआ कुराई जूआ जलोदरत्तं कोलिओ कुट्टु रोगं च वालो सरस्स भग कंटा लग्गई गलम्मि दाहं च तालुम्मि विधदू अली वंजण मज्झम्मि भुजतो
- २ उलूक, काक, माजरि, गुध्र, शम्बर, शूकराः अहि, वृश्चिक, गोधाश्च जायन्ते रात्रि भोजनात् ।
- ३ एक भक्ताशना नित्यं, अग्निहोत्र फलं लभेत् अनस्त भोजनो नित्यं, तीर्थयात्रा फलं लभेत् (स्कन्ध पुराण)
- ४ मृते स्वप्न मात्रे वि, सूतकं जायते किल अस्तं गते दिवानाथे— भोजन क्रियते कथं ।
- ५ रादू भत्ते सिसारोय [दश. अ. ३ श्लो. २]
- ६ अत्थं गयम्मि आदूश्चे, फरत्थाय अरुग्गए आहार मादूयं सव्वं, मरामा विण पत्थए (दश. अ. ८ श्लो. २८)
- ७ चउव्विहे आहारे, राई भोयण व ज्जणा सन्निही संचओ चेव, बज्जेयव्वो सुदुक्करो (उत्त. अ. १६ श्लो. ३०)
- ८ उदउल्लं वीअ संसतं, पाणा निवडिआ मही, दिआताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे (द. अ. ८) सति में साहुमाषाणा, तसा अदुव थावरा, दिआताइं विवज्जेज्जा, राओतत्थ कहं चरे ।



# Classification of Animals In Tholkappiyam Part I

---

**Balkrishna K. Nayar**

---

Tholkāppiyam is an ancient Tamil treatise which deals with the writing ( eluththu ) the speaking ( sol ) and the meaning ( porul ) of the Tamil language. It covers various branches like orthography, phonetics, morphology, etymology, semantics, syntax, prosody and rhetoric ( Karumuttu Thiagarajan—Foreword to Tholkāppiyam in English, 1964 ). Many consider it the oldest extant work in Tamil. Few books command the prestige and authority that Tholkāppiyam has in Tamil. “The greatest, grandest, and the most ancient Tamil work” is how Shri C. N. Annadurai describes

it in his Introduction to an English translation of Tholkāppiyam with critical studies by Professor S. Ilakkuvanār.

Among the numerous topics that come within the enormous sweep of Tholkāppiyam is a classification of the animal world. Living things have been classified into six on the basis of their sensory perception.

“The life of one sense is that  
which has  
the sense of touch  
The life of two senses is that  
which has  
the sense of tongue in addition  
to the one

The life of three senses is that  
which has  
the sense of nose in addition  
to the two

The life of four senses is that  
which has  
the sense of eyes in addition  
to the three

The life of five senses is that  
which has  
the sense of ears in addition  
to the four

The life of six senses is that  
which has  
the mind in addition to the  
five

Thus the well-versed scholars  
classified the  
living creatures.

[ S. Ilakkuvanar, Tholkappiyam, in English, with critical studies, verse 582, page 251-252 ]

Onrarivaduve utrarivaduve  
Irandarivaduve Adanodu nave  
Moonrarivaduve avatrodu mookke  
Nangarivaduve avatrodu kannen  
Eindarivaduve avatrodu sevieu  
( Chevie )

Ararivaduve avatrodu manano  
Neridu unarndor nerippaduttinare

Examples of each of these  
six classes have also been indicated  
in the succeeding lines.

The grass, the trees and others  
of their ilk are endowed with  
one sense.

[ Põllum maranum orarivinave  
Piravumulave akkilaippirappe ]

The snail, the oyster, and others  
of their ilk have two senses.  
( Nandhum uralum eerarivinave

Piravum ulave akkilaippirappe )  
The termites ( white ants ),  
the ants, and others of their ilk  
have three senses.

( Sidalum erumbum moovarivinave  
Piravum ulave akkilaippirappe )

The crabs ( or is it bees ? ),  
the dragon flies, and others of  
their ilk have four senses.

( Nandund (m) tumbiyum nanga-  
ravinave  
Piravum ulave akkilaippirappe )

The beasts, human of low  
culture, and others of their ilk  
have five senses.

( Mavu makkalum iyarivinave  
Piravum ulave akkilaippirappe )  
Enlightened people and others  
of their ilk are beings of six  
senses.

( Makkadame yarariyire  
( Makkalame )  
Piravum ulave akkilaippirappe )

[ Tholkappiyam, verses 583-588 ]  
According to this classification  
it would appear that those  
human beings in whom the sense  
of the mind, or reasoning, is not  
awakened are placed in the category  
of beasts.

[ S. Singarevelu Social Life of the  
Tamils— The Classical Period  
1966, page 18 ]

In literary usages in Tamil,  
says R. P. Sethu Pillai in his  
book “Word and their Significance”,  
( page 9 ) the term makkal  
denotes generally rational beings  
and the term mākkal signifies  
those human beings who are  
devoid of reason.

The classification of animals referred to in Tholkāppiyam is of considerable scientific significance. It lays stress upon the essential points of difference in internal development and the response to external stimuli. It brings within one canvas the plant world and the animal world. Specially significant is the inclusion of the sixth sense which differentiates the evolved man from the animal. The few examples cited also show familiarity with the marine forms of life.

The classification of the animate world occurs in the third part of Tholkappiyam, the 'porul athikaram' — in the chapter on usage of words (Marapiyal). This, the last chapter of the book, deals with the various names denoting young ones, those which denote the males, and those which denote the females. While discussing the names of young ones, Tholkappiar says in verse 579 'pillai', 'kulavi', 'kanru' and 'poththu', are appropriate to denote "the young ones of things which have one sense only."

In verse 580 he says that paddy and grass are not included in them, (although by implication they are things which have one sense only). After stating that there are no names for young ones other than those discussed in verses 566-580, he proceeds to divide the animate world into the six categories mentioned

earlier.

This division, therefore, is not in any way connected with any philosophical discussion, religious tenets, or scientific discourses. It is purely a part of the study of the language and the literary forms.

The classification in Tholkāppiyam is in striking contrast to the system in Manusmriti or the Mānava-Dharma-Sāstra. (The Ordinances of Manu)

"Cattle and also deer, and wild beasts with two rows of teeth, demons and devils ( raksasas and pisachas) and men are born from a caul ( gerayuja )

"Produced from eggs ( are ) birds, snakes, crocodiles, and fish, and tortoises and likewise all others kinds (of reptiles which are ) produced on land or are aquatic ( Andaja)

"From moisture are produced gnats and flies, fleas, and bugs and from heat is produced whatever else is of this kind. (Svedaja)

"All plants (which are ) fixed grow from seeds on slips" ( Udbhija ) ( Ordinances of Manu Lecture I, Verses 43-46 )

The division of the animate world into four groups according to their modes of birth—( Jera yuja, andaja, swedaja, and udbhija, first made in the Vedic Literature gained wide currency in the post Vedic Literature and found frequent mention in the Puranas and the Mahabharata.

(Caraka and Susruta both followed this classification in their medical treatises ( J. L. Bhaduri, K. K. Tewari and Biswamoy Biswas, Section on Zoology in "A Concise History of Sciences in India, page 426" ).

Jain treatises contain a different type of classification. Umāsvāti, a renowned Jain author, in his work Tattvarthasūtra gives a classification based on the number of senses possessed by organisms.

"Living beings of the world are divided into two, the mobile and the immobile" ( Sansārīna sthāra—sthāvara—Chapter 2, Verse 12 ).

"Earth, water, fire, air and plants are immobile" ( Prithivyapthejovayu vanaspataya sthāvara—Verse 13 )

"Those with two or more senses are mobile" ( Dvīndriyādayastrāsa—Verse 14 )

"The sensory organs are 5 in number" — ( Panchendriyani — Verse 15 )

"The plants come last and have one sense" ( vanaspatyantānāmekam—Verse 22 )

"The worms, ants, bees, and human beings have one more increasingly (Krmīpeelīkabhrāma-ramanusyādīnām ekaikavrdhāni—verse 23)

The essential difference between the Vedic or Aryan texts, and the Jain texts, in the classi-

fication of animals, is that the former appears to lay stress on the origin, while the latter appears to stress the capacity to perform.

There is a close similarity between the classification of animals in Tholkappiyam and the classification to the Jain texts. Firstly they are both based upon the exercise of the sensory powers. Secondly plants and animals are all brought within the purview of an integrated classification of all living things. Plants are uni-sensory and among the lowest. Animals are listed according to increasing sensory powers.

The author of Tholkappiyam says about his classification that it is based upon the views of enlightened scholars. His is therefore not an original classification. The inspiration for the system appears to be the views of scholars of Jain persuasion.

Attention appears to have been drawn to this similarity between the Tholkappiyam text and the Jain views by Shri S. Vaiyapuri Pillai in an article in Chen Tamil, a Journal of the Madurai Tamil Sangam in 1919-20 ( p. 339 ). In his History of Tamil Language and Literature Prof. Vaiyapuri Pillai states "Tholkappiar flourished during the second half of the 5th century A. D.. He was a Jain by persuasion, for the Jain classifi-



cation of lives ( jiva ) and non-lives (ajiva ) is found in the marapiyal ( sutras 27-33 ) ( page 65-66 ). He also refers to the prefatory verse in Tholkappiam by Panampāranār in which the author is referred to as “Padi-maiyon”—that is one who observes the Jain now known as Padi-mai.

Pandit Kailash Chandra Sidhantasastri in his book “Dakshin Bharat Men Jain Dharm” says regarding the classification of animals in Tholkappiyam. “This has the appearance Jain concept. This division of the living based on the senses is not met with in any other world view (philosophy). Therefore this very ancient treatise on Tamil Grammar which has been accepted by later scholars as an authoritative treatise, is the work of a Jain scholar.” ( Yeh Jain siddhant kā hi roop hai. Indriyon ka ādhār par kiyā gayā jīvan kā yeh vibhāg anya darshanon men nahīn pāyā jāta. Atah atyant purātan yeh Tamil Vyākaran granth, jo bād ke vidwānon dwārāh ek pramānik granth ke roop men mānā gayā, ek Jain Vidwān kī krithi hai”— p. 8 )

Equally vehement has been the view of a large number of Tamil scholars. Ilakkuvanār categorically states that “In Tholkappiyam there is not to be found any reference about Jainism or Buddhism. The attempt of Prof.

Vaiyapuri Pillai to prove that Tholkappiyar is a Jain is far-fetched and fanciful. Prof Vellivaranavar discussed the view-point of a Vaiyapuri Pillai in detail and maintained that Tholkappiyar lived some 100 years before the age of Buddha ” (Tholkappiam, in English—p. 8-9).

Tholkappiar was no law maker like Manu. He is merely quoting the accepted views. He too accepts them. At the end of the passage on classification of Animals in Tholkappiam he says “Neridu unarnor nerippaduttinare”. “This is verily the truth as the awakened have ascertained.” Whether Tholkappiar was a Jain or not, he certainly accepted the classification of animals according to the number of senses as in the Jain texts as the correct usage. In this respect Tholkappiar certainly appears to be a person of Jain persuasion.

It is necessary to compare the classification of animals in Tholkappiam more vigorously with the extant Jain system.

Tholkappiyam clearly speaks of six senses. The Jain texts speak categorically of the five senses. Panchendriani (Verse 15, chapter 2). This admits of no vagueness.

The idea of a sixth sense is foreign to latter day Indian thought. We speak figuratively of a sixth sense, but it does not appear to find scientific acceptance in the classical Indian thought,

especially the Indo-Aryan.

The idea of a sixth sense is inherent in the Jain thought although not specifically stated in the Tattvārtha sūtra. The words which come after the fivefold classification “Vanaspatyantanam-ekam Kṛmipipeelikabhramara Manushyadeenam ekaikavrdhani” are very significant.

Samjñina samanaska (verse 24.) Beings with minds are persons.

This appears to be an extension of the division of senses into Dravyendriya, the material sense and Bhavendriya—the conceptual sense.

(Panchendriyāni,

Dvividhāni,

Nivarthiyupakarano Dravyendriyam,

Labhyupayogau Bhāvendriyam )

(Verses 15-18)

These verses precede the actual classification. There is however no explicit statement regarding a sixth sense, nor a consequent sixth category in Tattvārtha Sūtra.

A detailed study of the commentaries, on the classification of animals in Tholkappiyam and in Tatvartha Sutra, may be of help in resolving the matter. The examples of beings with five senses given in the Tattvārtha Sūtra Bha-s-yam include Nāraka manushya devānām, the devils,

human beings, and the gods.

{ Sesānām—ca tiryagyoniñānām matsyoragabhujā-ngapaksi catuspadānām sarvesām ca nārakamanusyadevānām pancendriyāni

Chapter, II, verse 24 ]

Whatever may be said of the devils and human beings, the gods may not be deemed to lack understanding and discernment, or the faculty of reasoning. Even they are said to have only five senses in the authoritative Jain Commentaries. Therefore it cannot be said that Tholkāppiar's classification is fully in accordance with extant Jain texts.

Another point of difference is in relation to the lower forms of life. Tattvārtha Sūtra states that only beings with two or more senses are mobile or thrasa. “Dvindriyadayastrasa” Commentators of Tattvārtha Sūtra seem to place only plants among organisms of one sense. The Tamil commentaries on the other hand specifically include certain animal forms also among beings of one sense. Certain soft worms (enbil puzhu) are included with plants among the lowest forms. The new-born of animals is classed among those with only one sense. The term Pillai, which according to verse 579 is appropriate to denote the young ones of things which have one sense only may be used according to Tholkāppiar for the

young ones of birds, creeping creatures, pig, tiger, bear, jackal, and monkey, but expressly not for the dog. The word kulavi may similarly be used for the young ones of elephant, cow, buffalo, ewe, deer, monkey, ape, black monkey and even human beings in addition to the young ones of beings with one sense only. The classical treatment in Tamil appears to be that as the infant grows it develops more and more faculties and ultimately, in the case of human beings it reaches the state of the sixth class.

Such a view may not be entirely inconsistent with the Tattvārtha Sūtra. It says plants are the lowest and have one sense. Beings with two or more senses are mobile. There is probably no logical bar to the existence of unisensal beings other than plants provided they are not classed as mobile ( or thrasa ). But the commentators of the Tattvārtha Sūtra do not appear to have taken such a broader view.

It may however be remarked that the commentators of Tattvārtha Sūtra are not unanimous in their views regarding the interpretation of the portion in the Sūtra which deals with the classification of animals. The Tattvārtha Sūtra is among the most exalted Jain texts in Sanskrit in the Sūtra form. Acco-

rding to Jain Dharm kā Prāchin Itihās, Part II, by Parmanand Sastri, there is no indication that any Jain book was written in Sanskrit prior to the Tattvārtha Sūtra.

In this is contained the essence of Jain literature. For this reason, this book is uniformly accepted by all followers of Jainism. It is no doubt famous in the world of philosophy, but in the world of religion its standing is none the less. It has achieved the same greatness among the followers of Jainism as the Gita among the Hindus, the Koran among the Muslims and the Bible among the Christians.

( Is men Jain vangmay kū rahasya antarnihit hai. Is kāran yeh granth Jain Paramparā men samān roop se mānya hai. Dā-rshnik jagat men to yeh prasidh hua hi hai, kintu, ādhyatmik jagat men is kā samādar kam nahin hai. Hinduon men jis tareh Gita kā, mussalmānon men Quran kā, aur Issāyion men Bible kā jo māhatav hai, wohi mahatv Jain paramparā men Tattvārth sūtra ko prāpt hai ).

It is stated that at present there are two texts of the Tattvārth Sūtra in use, the Digambar version and the Svetambar version. Among the two points of major difference of opinion mentioned in Jain Dharm kī Prāchin Itihās are the following :

Srutam matipurvam Dwayaneka-  
dwādasabhedam  
Chap. I, verse 20  
and Nivṛtyupakarno dravyend-  
riyam

Chapter II, verse 17

Both appear to relate to the senses and their classification. The commentators of the Digambara school appear to be more consistent with current thinking on the subject. The Svetāmbarās appear to have a slightly different view. May be an earlier view.

Umāswāti belonged to the second century Vikrami according to the Digambara school, and the third or fourth century Vikrami according to the Digambara school. Umāswāti was a South Indian.

The Tattvārtha Sūtra of Umāswāti is not in original work, but a statement of Jain philosophy. There does not appear to have been any sudden change in the world view of Jains about the time of Umāswāti.

Yet there is a marked contrast between the views regarding the number of senses and the classification of animals, as depicted in Tholkappiyam and as presented in Tattvārtha Sūtra both written by scholars in South India.

This wide disparity can probably be best explained in terms of a wider time gap between the writing of the Tholkappiyam and the Tattvārtha Sūtra. Is it po-

ssible that Tholkappiyam was written before the advent of current Jain thought of the Digambara school into the South? Were the beliefs of the Svetāmbarās who might have predominated in the south much earlier, different in some detail from the current? Could the advent of the Aryans have produced minor changes in the world view of the Jains?

The classification of animals in Tholkappiyam thus appears to be a subject which needs much greater attention of both the scientists and the theologians than it has received.

*Abstract.* The classification of animals given in Tholkappiyam is based on increasing sensory response. This is different from the classification in Vedās and Purānās where the classification lays stress more on the origin, than on the capacity to perform. The classification of animals in Tholkappiyam has obvious similarity to the Jain system as enunciated in Tattvārtha Sūtra. There are certain difference too. The major difference between the two systems is in the specific recognition of a sixth sense in the Tholkappiyam unlike the current Jain texts. The classification of animals in Tholkappiyam appears to reflect the Jain world view, probably anterior to the extant Jain texts. □ □

## Early Jainism and Yaksa Worship

---

**Dr. Asim Kumar Chatterjee**

---

The early Vedic texts show some acquaintance with supernatural 'beings' or 'spirits' called Yakṣas. But compared with Rakṣas they are mentioned less frequently. Unlike Rakṣas and Piśācas, the Yakṣas are depicted in the early and later Vedic literature as less dangerous and malignant, although they too, sometimes are conceived as pure evil spirits. It is of great interest to note that Kubera, the leader of the Yakṣas of later literature, is delineated as the king (*rājan*) of Rakṣas and other evil-doers in such an old text as the *Satapatha Brāhmaṇa*.<sup>1</sup> He is fur-

ther called by his other name Vaiśravaṇa in that text. A still earlier reference to him will be found in the *Atharvaveda*,<sup>2</sup> but there he is not connected with either the Yakṣas or Rakṣas. There are separate reference<sup>3</sup> to the Yakṣas and Kubera in later Vedic literature, but Kubera as the king of the Yakṣas appears only in the post-Vedic literature. The term 'Yakṣa' also appears in the *Jaininīya Brāhmaṇa*<sup>4</sup> as the name of an unexplained being. But exactly at what time Kubera lost his position as the king of Rakṣas, it is not possible to say in the present

state of our knowledge. But there is little doubt that he came to be associated with Yakṣas long before Mahāvīra and Buddha.

From the epics we learn a great deal about Yakṣas and some of their prominent leaders. In both the *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* the Yakṣas, unlike other supernatural beings, appear as demi-gods. The interesting story told about the struggle of the Yakṣas as led by Kubera, and Rākṣas led by his younger brother Rāvaṇa in the Uttarakāṇḍa<sup>5</sup> of the *Rāmāyaṇa* shows that by the time that portion of the epic was composed, the Yakṣas were looked upon as somewhat benevolent beings. We should particularly take note of the epithet *mahātman* applied to Maṇibhadra and Kubera in that Book of the *Rāmāyaṇa*<sup>6</sup>. The famous Yakṣa-Yudhiṣṭhira story told in the *Mahābhārata*.<sup>7</sup> also proves that the poet of that part of the great epic had real deference for Yakṣas. Another point that will have to be noted in this connexion is that Kubera or Vaiśravaṇa, the lord of the Yakṣas in the epics, is conceived not only as an honourable member of the Brāhmanical pantheon but also as one of the four Lokapālas. We are told in the Uttarakāṇḍa<sup>8</sup> that formerly there were three Loka-

pālas and that Kubera or Vaiśravaṇa was installed as the fourth Lokapāla by Brahman after the former satisfied the latter by his penances. There is no doubt that Kubera was either a Rakṣa or Yakṣa before he was accepted in the Indian pantheon and his elevation supports our contention that in the period of the composition of the epics, Yakṣas had their regular devotees among the local population, and this will be confirmed by our present discussion.

In the literature of both the Jains and Buddhists the Yakṣas plays a very important role. But the early Jain canonical writers, even more than their Buddhist counter-parts, show a very intimate acquaintance not only with the Yakṣas, but also disclose the names of innumerable Yakṣa shrines of the Aryāvarta and Uttarāpatha. Any one who is even superficially acquainted with the Aṅgas and Upāṅgas know that one such Yakṣa shrine is mentioned almost in every *Sūtra* of these texts. There was hardly a city or town which had not a Yakṣa *āyatana* or *caitya*. We are giving below a list containing the names of some important shrines (majority of which were dedicated to Yakṣas) in the Jain texts.

<i>Name of the city</i>	<i>Name of the Shrine</i>
Vardhamānapura	— Maṇibhadra
Kayaṃgalā	— Chattapālāsa

Campā	— Purnabhadrā and Argamandira
Vāṇiyagāma ( a suburb of Vaiśālī )	— Suhamma
Vaiśālī	— Bahuputtīyā and Komdiyāyana
Mithilā	— Mañibhadra
Alabhiyā	— Saṃkhavaṇa and Pattakāḷaga
Vārānasī	— Koṭthaga and Ambasālavana
Kauśāmbī	— Caṃdotaraṇa
Srāvastī	— Koṭthaga
Mathurā	— Sudarśana
Hastināpura	— Sahasaṃbhavana
Dvārāvātī	— Surapriya

This list is, by no means, extranstive and it is not difficult to mention, at least, another one hundred such shrines situated in various parts of Northern and Eastern India.

The Pāli Buddhist texts disclose the names of a good number of so-called Yakkha-cetiyas, most of which were situated in various parts of Eastern India. In the *Mahōparinibbāna Suttanta* of the *Dīgha Nikāya*, quite a few shrines situated in the celebrated city of Vaiśālī or Vesālī, are mentioned. They are—Sārandada, Cāpāla, Udena, Gotamaka, Bahuputta and Sattamba. From another Book of the *Dīgha Nikāya* viz. *Pātika Suttanta* we further learn that Udena was situated to the east, Gotamaka to the south, Sattamba to the west and Bahuputta to the north of this city. We have already seen that the shrine of Bahuputta is mentioned in

the *Bhagavati*,<sup>9</sup> the celebrated 5th Aṅga of the Jains from which we further learn that it was once visited by Mahāvīra. As a matter of fact, this is the only shrine that is mentioned both in the Jain and Buddhist texts. Another Bahuputta shrine was situated on the road between Rājagrha and Nālandā, according to the *Samyutta Nikāya*.<sup>10</sup> In this shrine Buddha exchanged robes with Mahākassapa. We have also seen that a few Yakṣa shrines of Alabhiyā are mentioned in the Jain texts. It is just possible that one of these Yakṣa shrines is repeatedly mentioned in the Pāli texts<sup>11</sup> as connected with the activities of Buddha and few of his disciples. The Pāli texts also disclose the name of a few other shrines of eastern India viz. Supatittha of Rājagrha<sup>12</sup>, Ananda of Bhoganagara ( in the Vajji territory )<sup>13</sup>, Makutaban-

dhana of the Mallas,<sup>14</sup> and Ajakalāpa of Pātali or Pāvā<sup>15</sup>.

It is, however, extremely doubtful whether all the *ceiyas* and *ceiyas* or *āyatanas* of the Jain and Buddhist texts were dedicated to the Yakṣas. Let us first take up the case of the famous Bahuputta shrine situated in the northern part of Vaiṣālī and which as we have already noted, was the only shrine of ancient India to be mentioned clearly in both the Ardha-māgadhi and Pāli canons. There is reason to believe that this shrine was named after the goddess Bahuputtīyā, whose story is told so beautifully and humorously in the Upāṅga text the *Nirayavalikā*. We learn from the 4th Adhyayana of that Jain text that the goddess ( and not a female Yakṣa ) Bahuputtīyā was intimately connected with the welfare of children. We however cannot be sure on this point since another Bahuputtīyā is mentioned in the *Bhagavati*<sup>16</sup>, *Sihānōṅga*<sup>17</sup> and *Nāyādhammakahāo*<sup>18</sup> as the wife of Yakṣa Pūrṇabhadra. The well-known Gotamaka shrine of the same city, was in all probability, not a Yakṣa temple. We invite, in this connexion, the attention of readers to a few *slokas* of the *Sabhāparvan*<sup>19</sup> of the *Mahābhārata* where we come across the name of one Gautamauka temple of Rājagrha which according to these verses was named after the

Rṣi Gautama. The Sanskrit word *gautamauka* is exactly the same as the Pāli *gotamaka*. Since the temple of Gautamauka at Rājagrha was dedicated to Rṣi Gautama, it is reasonable to infer that the shrine of the same name situated at Vaiṣālī was also named after that Vedic Rṣi. It is also interesting to note that a sect called Gotama-Goyama is mentioned both in the *Anuyogadvāra*<sup>20</sup> a Jain canonical text, and the *Anguttara*<sup>21</sup> a Pāli work. According to Hemacandra<sup>22</sup>, the commentator of *Anuyogadvāra*, the mendicants belonging to that school, earned their livelihood by exhibiting young bulls, painted and decorated as well as by performing tricks. The worship of ancient Rṣis was not an uncommon thing in ancient India. We have the well known instance of Agastya worship. A shrine called *Kāmamahāvana* is mentioned in several Jain texts including the *Antagadadasāo*<sup>23</sup> and *Bhagavati*<sup>24</sup> as situated at Vārāṅasī. It can, by no stretch of imagination, be called a Yakṣa shrine. It was surely dedicated to the Hindu god of love Kāmadeva, who was one of the most popular gods of ancient India and whose festivals were regularly held in almost all important cities of India during spring-time. The *Angamandira*<sup>25</sup> shrine of Campā, connected with the activities of



the Ajivika philosopher Makkhaliputta Gośala was also probably a Brāhmanical temple. The is only 'ceiya' of the Jain literature whose name has the significant ending *mandira* meaning probably a *devakula*. We should further note that the deities and even noble persons were often called 'Yakṣas' in ancient India. In the *Majjhima Nikāya*<sup>26</sup> and the *Petavatthu*<sup>27</sup> Indra is called a 'Yakṣa.' The famous city of gods Alakanandā is mentioned in the *Dīgha*<sup>28</sup> as the city of Yakṣas. Even Buddha is called a 'Yakṣa' in the *Majjhima Nikāya*<sup>29</sup> The highly interesting Buddhist Sanskrit text the *Mahāmāyūri*, recently edited and translated by D. C. Sircar<sup>30</sup>, has a comprehensive list of the so-called Yakṣa shrines in which almost all the well known Hindu gods are called 'Yakṣas.' As for example, Viṣṇu of Dvārakā in verse No. 19, Siva of Sivapura in verse 47 and Kārttikeya of Rohītaka in No. 35. We have already noted that the epics, the *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* have nothing but deference for the Yakṣas, who were superior in character and demeanour, to the Rākṣasas and Piśācas. Even a person like Yudhiṣṭhira is delineated in the *Mahābhārata*<sup>31</sup> as worshipping the Yakṣa Mañibhadra whose shrine according to the Jain texts,<sup>32</sup> was situated both at Mithilā and Vardhamānapura of

Bengal. This particular Yakṣa is mentioned elsewhere in the *Mahābhārata* as the presiding deity of travellers and traders<sup>33</sup> and a Buddhist canonical text<sup>34</sup> alludes to a shrine of the same Yakṣa at Gayā. Another Buddhist text<sup>35</sup> refers to the sects who apparently worshipped Mañibhadra and Pūrṇabhadra both of whom are honourably mentioned in the Jain texts.

The list given above regarding some of the Yakṣa-cetiyas shows that most of these shrines were situated in eastern India. There is no doubt that Yakṣa-worship was basically anti-Vedic in character. And only when the fusion of Aryans with non-Aryans was complete, that they were looked upon with veneration. It is also a fact that a few members of the Brāhmanical pantheon like Siva, Gaṇapati, Skanda and Durgā were originally local deities, worshipped by non-Aryans, or to put it more correctly, un-Aryans. Both Jainism and Buddhism, which were basically anti-Vedic naturally befriended popular and indigenous religious systems which had a greater appeal for the masses. Pārṣva, who may be called the real founder of Jainism, probably used to visit the well Yakṣa shrines of Vārānaśī. His visit to the famous Pūrṇabhadra shrine of Campā is recorded in the *Nāyādharmakahāo*,<sup>36</sup> the 6th Aṅga text. Regarding his

illustrious successor the lord Mahāvīra, we can say with certainty that the Yakṣa shrines of eastern India were his most favourite resorts. In this connexion the following words of the Master found in the *Bhagavatī* may be reproduced here “I pass my nights in *devakulas sabhās, pavās ārāmas* and *ujjānas*.” Most of the *ceiyas* of the Jain texts were situated in *ujjānas* meaning gardens. He also used to visit frequently shrines like Guṇaśīla of Rājagrha Pūrṇabhadra of Campā, Koṣṭhaka of Srāvastī etc. Quite a good number of his lectures were delivered according to the *Bhagavatī*, in the Guṇaśīla shrine of Rājagrha. A very vivid and useful description of the famous Yakṣa shrine of Pūrṇabhadra, situated to the north-east direction of Campā is given in the well-known Upāṅga text the *Aupapātika*.<sup>37</sup> The description there leaves no room to doubt that this particular shrine was one of the most prominent cultural and religious centres of that celebrated city, represented as the metropolis of Kūṇika-Ajātaśatru, the son of Sreṇika-Bimbisāra.

Although the *Bhagavatī* refers to Mahāvīra's visit to *devakulas*, very few *devakulas* are actually mentioned either in the Jain or Buddhist canonical texts. We have already referred to the temple of the god of Love situ-

ated at Vārāṇasī. There is little doubt all the three Teachers Pārśva, Mahāvīra and Buddha scrupulously and carefully avoided temples dedicated to Brāhmanical gods. But the *ceiya-ceiyas*, dedicated to Yakṣas, were favoured by them. In this connexion we can recall the following words spoken by Buddha to his followers in the *Anguttara Nikāya*,<sup>38</sup> “Vajjian shrines should be revered.” By Vajjian he means the famous shrines of Vaiśālī and possibly also of Bhoganagara which was also situated in the Vajjī country. So it seems that both Mahāvīra and Buddha had some genuine deference for Yakṣa shrines, particularly of eastern Indra. Unlike Buddha, who spent the major part of his ascetic life in the luxurious Jetavana-vihāra of Srāvastī and the Squirrels' feeding place of Rajagrha, Mahāvīra, who wandered about absolutely naked, spent the major portion of his life in deserted caves and dilapidated shrines. Here we would like to draw the attention of readers to the fact that Mahāvīra became a Kevalin near a dilapidated shrine (*ceiya*).<sup>39</sup>

It is clear from the *Vipākaśrutā*<sup>40</sup> and *Aupapātika*<sup>41</sup> that Yakṣas were worshipped like gods with leaves, flowers incense and sandal etc. Just like gods they were worshipped for progeny, success etc.<sup>42</sup> These shrines inva-

riably had an image<sup>43</sup> of the Yakṣa to whom it was dedicated. There is also reason to believe the image worship was originally a non-Aryan custom and it probably started with the worship of Yakṣa images. Image worship was also an integral part of Jain religion from the earliest times. Even in the most ancient texts of the Jains we have references to images and shrines dedicated to various Tīrthāṅkaras. If the evidence of the Hāthigumphā inscription is to be believed, a Nanda king of the 4th century B. C., took away a Jina image from Kalinga.<sup>44</sup> It is also possible that early Jain sculptors got inspiration from the Yakṣa images installed in various shrines. Even there is reason to believe that the association of every Tīrthāṅkara with a particular tree was due to the influence of Yakṣa worship which was often connected with *rukṣa* or tree worship. We should remember that the original Sanskrit word *caitya* also meant a sacred tree.<sup>45</sup> Further the commentary of the *Dhammapada* describes the Udena and Gotamaka shrines as *rukḥhacetiya*s, This is not surprising since most of the Yakṣa shrines, according to the Jain canonical texts, were situated in the midst of big gardens (*ujjāna*)<sup>46</sup>

The intimate connexion of both Jainism and Buddhism with

Yakṣa worship is also proved by the fact that Vaiśravaṇa Kubera, the lord of Yakṣas, is probably the most prominent of the Hindu gods to be worshipped by the Jains and Buddhists alike. This is proved by the references to him in their canonical texts. He was popular even outside India.<sup>47</sup> As Jainism found favour with the traders from quite early times, it is natural that god of wealth Kubera, who was the supreme lord of the Yakṣas, should be popular among the devotees of Pārśva and Mahāvīra.

It is clear from the above discussion that early Jainism had close and intimate connexion with Yakṣa worship and gradually incorporated and absorbed some of its salient features. The Jains, it should be noted, had a very favourable attitude towards the so-called malignant spirits. This is proved by Vimala's treatment of some Rākṣasa characters of the *Rāmāyaṇa* in his celebrated *Pau-macariyam*. Characters like Rāvana, Kumbhakarna and others are represented in this poem as vegetarian Vidyādharas, believing firmly in non-violence. Vimalasūri, who flourished in the 1st century ( 530 years after the Nirvāna of Mahāvīra ) A. D , even takes the author of the *Rāmāyaṇa* to task, for delineating the Rākṣasas as cruel beings.<sup>48</sup> As firm believers in non-violence,

the early Jain writers refused to believe that even supernatural beings or spirits would indulge in violence. It is, therefore, entirely

natural that Yakṣas should get an honourable place in the early Jain canonical literature.

## References

- 1 XIII. 4.3 .10
- 2 VIII. 10.28
- 3 Mānava GS, 11.14; Sān GS, 1.11.7; Hiranya GS, II. 1.3.7; see also SBE, Vol. 29, p. 219
- 4 II. 203, 272
- 5 Chs. 14 f
- 6 VII. 15.15, 29
- 7 III, Chs. 312 ff
- 8 3.11 ff
- 9 Para 617
- 10 Vol. II, p. 149
- 11 Suttavibhanga, Vol. I, p. 246; Vol. 2, pp. 71, 194; 223; Anguttara, Vol. IV, p. 147; Saṃyutta, 1, pp. 234, 275; etc.
- 12 Mahāvagga, p. 45
- 13 Anguttara, Vol. II, p. 174
- 14 Mahāparinibbāna of the Dīgha
- 15 Udāna, p. 6
- 16 Para 406
- 17 Para 273
- 18 Para 153
- 19 21. 5–8
- 20 Para 20
- 21 Vol. III, p. 200
- 22 Anuyogadvāra-vṛtti, p. 25
- 23 Para 15
- 24 Para 550; see also Nāyā, 151
- 25 Bhag, 550
- 26 I, p. 252
- 27 II, 9.65 f
- 28 II, p. 170

- 29 I, p. 386
- 30 JAIH, Vol. V, pp. 262-328
- 31 XI V. 65.7
- 32 Jambudvīpaprajñāpti, 1.178; Sūryaprajñāpti, 1-2; see also Bhag, 362
- 33 III. 64. 13; III. 65. 22
- 34 Samyutta, I, p. 266
- 35 Mahāniddeśa, pp. 89, 92; see also Milindapaṇha, p. 191
- 36 Para 152
- 37 Para 2
- 38 Vol. IV, p. 10
- 39 See Kalpasūtra, 120 ( SBE. Vol. XXII, p. 263 ); see also Acāraṅga 11. 15. 25
- 40 See Vipāka ( Kota, 1935 ), p. 248
- 41 Para 2
- 42 Vipāka, p. 244
- 43 See Ant p. 86 (ed. L. D. Barnett); Vipāka, p. 86
- 44 See Sircar, Select inscriptions etc , p. 217
- 45 Cf. Mahābhārata, I. 150. 33-  
eko vrkso hi yo grāme bhavet parnaphalānvitah caityo bhavati nir-  
jñātirarcanīyah supūjitah.
- 46 See specially Aupapātika (3) which describes a big garden just out-  
side the Pūrṇabhadra caitya of Campā
- 47 See Yuan Chwang (Watters), Vol, I, p. 108; See also Mahāvamsa X. 89
- 48 See the paper on Vimalasūri's Paumacariyaṃ included in the pre-  
sent author's work entitled Ancient Indian Literary and Cultural  
Tradition, pp. 177-195

□ □

# Occultations of The Moon In Jaina Astronomy

---

**Sajjan Singh Lishk**  
**S. D. Sharma**

---

## **Abstract**

The Moon occults some Nakshatras (asterisms) from the Northern direction and some from the Southern direction; some are occulted from either direction depending upon the position of the lunar nodes. This paper analyses the relevant data as given in Jaina texts (Ganitānuṃyoga) and proves that the latitude of the Moon was determined in the Post-vedāṅg Pre-hellenistic, the dark period in the history of Indian Astronomy.

## **Theory**

Occultation of the Moon with Nakshatras (asterisms) has remained an object of interest since ancient times in India. The Phenomenon of occultation deserves some explanation here. There are different kinds of conjunctions like Kalayuti (longitudes equal), Bhedayuti (declinations equal) etc. (Sengupta 1947). The occultation of the Moon with a Nakshatra implies that the Moon's cusp is directed on the 2nd lunar day of the dark half toward the

identifying star of the Nakshatra which is also occupied by the Moon on the 15th lunar day of the Bright half. The Rig Vedic statement ( R. V. iii 3 20 ) that the Moon is placed in the breast of Nakshatras is justified in this way ( Lishk & Sharma, Hindu Nakshatras ). Occultation here does not necessarily imply complete or partial overlapping like the Moon piercing through the cart of Rohini,  $\alpha$  Tauri ( Dixit ) because conjunction stars of many Nakshatras lie so distant from the region where the Moon passes. Hindus preferred brighter stars rather than the fainter stars near the ecliptic to mark the lunar mansions of the Hindus (Report). In this light the present paper mathematically analyses some of the Post vedāng Pre-hellenistic data regarding the occultations of the Moon as found in Jaina Texts as given below—

Santhana, adda, Pusso, Silesa,  
 Hat tho taheva Mulo a  
 bahirau bahirmandalassa chapp-  
 etā nekkhitta.  
 Tatth naṃ je te nakkhitta je naṃ  
 sya chandassa  
 uttrenam joyam joyamti, te naṃ  
 barasa, tanjaha-Abhyī,  
 Savaṇa, Dhanit, tha, Syabhisyā.  
 Puvvabhaddavyā, Utrapotthavata,

Revyī, Assinī, Bharnī, Puvvapha-  
 ggunī, Uttaraphaggunī, sayī,  
 Tattha naṃ je te nakkhitta je naṃ  
 saya chandassa dahinauvi  
 uttarau vi pamddampi jogam jo-  
 yamti te naṃ ṣatta, tanjaha —  
 Kattiā, Rohini, Punavvasu, Maghā  
 cittā. visahā, Anurāhā  
 Tattha naṃ je te nakkhittā je naṃ  
 sayācandassa dahinavvi  
 pamddampi jogam joyamti, tāou  
 naṃ dve Asādhau savvabahirye  
 mandale jogam joamsu va.

Tattha naṃ je te se nakkhutte je  
 naṃ sya candassa paddam  
 joyam joyi, sa naṃ aigā jettha iti.  
 ( Ganitānuyoga P.P. 393-394 )

i. e. 6 Nakshatras always occult the Moon from the Southern direction (A), 12 Nakshatras from the Northern direction (B) and 7 Nakshatras both from the Southern and the Northern directions (C) Two aśādhas i. e. Pūrvaśādha (  $\delta$  Sagittarii ) and Uttaraśādha (  $\alpha$  Sagittarii ) always occult the Moon from the Southern direction (D) Jyeṣṭha (  $\alpha$  Scorpii ) always occults the Moon (E) Names of the other Nakshatras and their English equivalents alongwith the celestial latitudes at the beginning of 1973 A. D. ( Lahiri ) are given in the following table:—

## TABLE OF NAKSHATRAS AND

A			B	
Nakshatras	Conjunction stars	Latitude	Nakshatras	Conjunction stars
Mrigshira	λ Orionis	-13° 22' 23"	Abhijit	α Lyrae
Ardra	α Orionis	-16° 1' 51"	Sravana	α Aquilae
Pusya	δ Cancri	+ 0° 4' 34"	Dhanistha	β Delphini.
As lesa	ε Hydrae	-11° 6' 21"	Satabhisa	λ Aquarii
Hasta	δ Corvi	-12° 11' 37"	{ Purva Bhadrapada Uttara Bhadrapada Revati	α Pegasi
Mula	λ Scorpii	-13° 47' 5"		γ Pegasi
				§ Piscium
			As'wini	β Arietis
			Bharni	41 Arietis
			Purva	
			Phalguni	δ Leonis
			Uttara	
			Phalguni	β Leonis
			Svati	α Bootis



## THEIR LATITUDES

		C		
	Latitude	Nakshatras	Conjunction stars	Latitude
	+61° 44' 3" +29° 18' 16" +31° 55' 15" - 0° 23' 9" +19° 24' 24"	Krittika Rohini Punarvasu Magha Citra	n Tauri α Tauri β Geminorium α Leonis α Virginis	+ 4° 2' 53" - 5° 28' 9" + 6° 40' 56" + 0° 27' 50" - 2° 3' 9"
	+12° 35' 57" - 0° 12' 51"	Visakha Anuradha	∞ Libra ♁ Scorpii	+0° 20' 11" -1° 58' 57"
			D	
	+ 8° 29' 10" +10° 26' 53"	Purva Sadha Uttara Sadha	♁ Sagitharii α Sagitharii	-6° 28' 7" -3° 26' 45"
			E	
	+14° 19' 59"  +12° 16' 8" +30° 45' 17"	Jyestha	∞ Scorpii	-4° 33' 59"

So it is clear from the table that Nakshatras which occult the Moon from the Southern and the Northern directions, have their latitudes greater than the maximum South and North latitudes of the Moon respectively and the Nakshatras which occult the Moon from both Southern and the Northern Directions lie within the belt of the lunar Zodiac and their direction of occultation depends upon the position of lunar nodes, whereas Puṣya, śatabhiṣa and Revati are exceptions. The two Nakshatras i. e. Pūrvaśādhā and Uttaraśādhā have been distinguished from the others which also occult the Moon from the Southern direction. This is perhaps because the latitudes of these two Nakshatras lie very close to the maximum south latitude of the Moon. There is a slight deviation in the latitude of Uttaraśādhā. It strikes that either they may have considered some other conjunction stars of Puṣya, śatabhiṣa, Revati and uttaraśādhā Nakshatras or there must have been some later interpolation when these Nakshatras were displaced at the time when Jyeṣṭhā occulted the Moon. Ho-

wever we know that Jyeṣṭhā cannot occult the Moon continuously but the phenomenon repeats after 18-1/2 years, the time period of retrogression of the lunar nodes, just similarly as the Moon pierces through the cart of the Rohini ( $\alpha$  Tauri). Therefore some interpolation at a later stage cannot be ruled out.

But in the light of the foregoing discussion, scholars will accept that there was definitely a notion of latitude of the Moon. Such a notion also becomes clear from the concept that the breadth of the lunar Zodiac is 110 yojnas (Ganitanuyoga). According to Cunningham's relation between Yojna and the British mile, 1 Yojna is almost equal to 6.7 miles (Cunningham) according to which 110 Yojnas converted into degrees (One nautical mile being equal to 0.99 miles) Are almost equal to 10:5, very near to the modern value of the belt of lunar Zodiac (Lishk & Sharma 1974) So the latitude of the Moon was determined in Post Vedāng pre-hellenistic period in Indian Astronomy.

## Bibliography

Cunningham, A. The Ancient Geography of India. Varanasi. Indological Book House. Post Box No. 98 D. 38/26 Hauz Katra.

Dixit S. B. Bhartiya Jyotiṣa Saṣtra Eng. Tr. by R. V. Vaidya New Delhi, The Manager of Publications, Civil Lines.

Ganitānuyoga Compiled by K. L. Kamal Sandera ( Raj ) Agamanuyoga Prakashan.

Lahiri N. C. Indian Ephemeris for 1973 A. D. Calcutta Astro-Research Bureau.

Report of Calendar Reform Committee ( 1955 ) New Delhi, The Manager of Publications, Civil Lines.

Sengupta P. C. ( 1947 ) Ancient Chronology. Calcutta, Calcutta University Press.

Lishk S. S. & Sharma S. D., "Hindu Nakshatras" Manuscript ( In Print ).

Lishk S. S. & Sharma S. D. ( 1974 ) Paper in the proceedings of Summer School on History of Science. New Delhi. Indian National Science Academy.

# Non-naturalistic Epistemology And Metaphysical Realism : Are They Compatible In Jainism ?

---

**G. Sundara Ramaiah**

---

Brahmanical tradition with its sacrificial cult sought to bring about happiness either in this world or in the next world ( Abhyudaya and Nisreyasa ). But since Jainism rejected the ordinary worldly pleasures it has to substitute for it an unchangeable state of infinite bliss or nirvana. In rejecting the sacrificial cult it was necessary for Jainism to develop certain lines of ethical theory independent of the Brahmanical tradition. And this forced Jainism also to develop a

new line of thought in epistemology and metaphysics.

The aim of the paper is to give an account of the Jaina epistemology and metaphysics and trace out the naturalistic and non-naturalistic elements contained in both theories. While doing so we ask the question whether Jainism satisfactorily reconciles its predominant non-naturalistic epistemology with its naturalistic metaphysics.

In order to avoid any differences in understanding what is

meant by naturalism and non-naturalism. I set forth the following characteristics :

### **Characteristics of Naturalism**

- (1) Naturalism is that kind of doctrine which accepts sense experience as the most important avenue of knowledge.
- (2) Naturalism does not believe in esoteric, innate or intuitive or mystical knowledge.
- (3) The naturalist believes that the external world is an objective reality.
- (4) The naturalist believes that the world manifests order and regularity and this order cannot be changed by magic, sacrifice or prayer or human effort.
- (5) According to Naturalism man is a biological product but not a reflection of God.

In contrast with this set of characteristics of naturalism, non-naturalism shares the belief that there are more valuable avenues of knowledge than mere sense-experience. At once Jainism exhibits both these characteristics. And it is my purpose here to show how Jainism exhibits a non-naturalistic epistemology and a naturalistic metaphysics.<sup>1</sup>

### **Jaina Epistemology**

The problems of epistemology, according to Pujya Pada Mahavira, are : What and in

what manner can we become aware in and through our mind of ourselves and of others who are infinite individuals like us? What are the modes of cognition or categories of thought? What are, in other words, 'demonstrable facts' relating to a concrete individual distinguished from the 'probable'?

According to Jainism the demonstrable facts are five (Pancasthi Kaya). They are : (1) Dharma (Dhamma) or sense-data, (2) Adharma (Adhamma) or data other than those furnished by the senses, (3) Akasa (Agasa) or space, (4) Jiva or soul, (5) Pudgala (Puggala) or matter.<sup>2</sup> Each one of these demonstrable facts is to be understood according to the following categories. (1) Dravya (dabba) or Substance; (2) Guna or Attribute; (3) Kshetra (Khetta) or field of action; (4) Pradesa (Padesa) or division; (5) Kala or Time; (6) Paryayah (Pajjava) or causal relations and (7) Parinama or Transformation.

In view of the fact that there is nowhere to be found in the older scriptures of Jainism any systematic exposition of the theory of knowledge we proceed to the subsequent literature. In *Samavayanga* the five demonstrable facts (Pancasti Kaya) are spoken of as being immutable, permanent or eternal elements of

knowledge to which no notion of temporal relations can attach. The importance of Samavayanga is like this : while Kakuda Katyayana identified the concept of mind with concrete things Mahavira did not. Secondly, while Mahavira conceived a plurality of substances he dismissed the notion of a single universal soul.

Jainism offers us an empirical classification of things in the universe and takes its stand on the relativity of knowledge when it says that the relation of the objects within the world are not fixed or independent but are the results of the interpretation. The present day programme of the Anglo-American analytic philosophers to reconstruct a precise philosophical language is already foreseen by the Jainas when they maintained that reality and meaning are inseparable.<sup>3</sup> The Jainas begin their analysis of the process of knowledge by providing a set of means of cognition. They admit five kinds of valid knowledge. They are :-(1) Matijnana (2) Sruti jnana (3) Avadhi jnana (4) Manah Paryaya jnana (5) Kevala jnana.

### **Matijana**

Matijnana is ordinary cognition obtained by normal means of sense perception. Perception or darsana is of two kinds : (1) Samvyavaharika Pratyaksha and (2) Paramarthika Pratyaksha.<sup>4</sup>

Samvyavaharika Pratyaksha is what we have in every day life, and it includes Smrti or remembrance and samjna or pratyabhijna or recognition; Curita or tarka or induction based on observation; abhinibodha or anumana or deductive reasoning.<sup>5</sup> Pramanamimsa vrtti defines Samvyavaharika Pratyakosa as the act of satisfying a desire to cognise. Pratyaksha is sakala or all inclusive in the case of Kevalin's knowledge and vikala or deficient in other cases. Matijnana, is knowledge by means of the indriyas or the senses and mind. But is called anindriya, so that it can be distinguished from the senses.

### **Sruti Jnana**

Srutajana is knowledge derived through signs, symbols or words. While matijnana gives us knowledge by acquaintance, srutajana gives us knowledge by description. Srutajana is of four kinds, namely, labdhi or association, bhavana or attention, upayoga or understanding and naya or aspects of the meaning of things.<sup>6</sup>

### **Avadhi Jnana**

Avadhi jnana is acquired by the senses and mind of things even at a distance of time or space.

### **Manahparyaya Jnana**

It is the knowledge of tho-

ughts or feelings of others, possessed only by those who have mastered the self-control and who have restrained the body, mind and speech.

### ***Kevala Jnana***

It is knowledge of a pure and perfect type, possessed only by those who have eliminated all karma and hence are omniscient, omnipotent and omnipresent.<sup>7</sup> This knowledge, which is independent of the senses, which can only be felt and not described is clearly a non-naturalistic element in the Jaina theory of knowledge.

This non-naturalistic belief that we possess the knowledge of any object, much before we see it, is the unique feature of Jaina epistemology. Cognition is merely the necessary condition to remove the veil from the knowledge we already innately possess. The removal of the veil, however, depends not only upon the sense organs coming into contact with an object, but also upon the karma of the individual. And ultimately, if the individual had no karma he would see the object without contact. Certainly this feature of Jaina epistemology is non-naturalistic.

This kind of epistemological position of Jainism leads us to discuss the question whether this is compatible with its naturalistic metaphysics or not? Jainism divides everything in the universe

into two realms: Loka and Aloka. The world of loka consists of three divisions (1) the upper (urdhva loka) (2) the middle (madhya loka) (3) lower (adh-loka). In the upper division are celestial beings, in the second are men and other creatures and in the lower are the denizens of the hell.<sup>8</sup>

Beyond the world of loka is an eternal infinite, formless, inactive world perceptible only by omnisciences. This is the world of aloka, which contains one substance. Loka and Aloka are shortend forms of lokakasa and alokakasa.<sup>9</sup>

One should not attempt to differentiate the natural from the non natural and if one does he will not arrive at a precise division of natural from the non-natural, because, we do not find a basic division in Jainism between the celestial world and the natural world of men and other creatures. The Jainas admit the existence of a clearly defined non-natural world only perceptible by omniscient Kevalins. The final aim is to "meditate" on the siddha—the soul which is be rest of the bodies produced by eight kinds of karma which is the seer and knower of Loka and Aloka, which has the shape like a human being and which stays at the summit of the universe.<sup>10</sup>

The universe is divided into two entities : (1) Jiva or the consciousness or the enjoyer and (2) Ajiva or matter and extension which are enjoyed. Ajiva is divided into two main classes. (1) Rupa dravya or Matter with form (2) Arupa dravya or Matter without form. Ajiva Arupa dravya consists of motion or dharma, rest or adharma, lokakasa and alokakasa and time.

Pudgala or Matter is whatever is perceived by the senses and includes the physical mind, karmas and ordinary external objects. Matter undergoes certain modifications and it is uncreated and eternal. Matter is the kinetic energy which is of two kinds : simple motion and (parispandana) development (parinama). The main divisions of matter are gross and subtle. That which is gross is perceptible by the senses, while that which is subtle is beyond the senses, being transformed into degrees of karma, hence becoming karmic particles.

The Jaina Metaphysics is an out and out metaphysics of substance for even what we generally regard as unsubstantial, such as karma is substance for them. No other philosophy makes a more exhaustive analysis of karma than Jainism. This is perhaps to be expected since only Jainas treat karma as being itself physical. In commenting on

Stevenson's statement, "As karma does inflict hurt or benefit, it must have a form!"<sup>11</sup>—Jaini says, it has form because it is matter.<sup>12</sup>

Karma arises from four kinds of Mohas or attachments and it works without outside intervention. While karma is formless for theistic Hinduism, it has form and matter in Jainism. The most important aspect of the Jaina view of karma for naturalism is the notion that karma is material and atomic.<sup>13</sup> The atomic particles of karma are also without beginning. The soul of a siddha has no karmic particles, but all other human souls do have karma.

Of all the expositions of karma the Jaina view is the most naturalistic. The Jainas are able to deal in a greater detail than other believers in karma since they have a physical model with which to deal. If one questions "How can a part of what is patently non-naturalistic be naturalistic if the whole is non-naturalistic?" a justifiable answer may be given. But it still does not explain how or when karma gets into human soul.

From the above analysis of the theory of knowledge and the metaphysical position of Jainas, with reference to karma as an impediment causing obstruction to knowledge, and the removal of the obstruction resulting in the



omniscient knowledge, we draw the following conclusions.

### **Conclusions**

1. At the lowest level of knowledge, though naturalism plays a primary role, it is evident at the highest level that Jaina theory of knowledge is non-naturalistic and is capable of co-existing with the metaphysical pluralism or a kind of monism. (Extended or concrete monism.)

2. Jainism accepts an a priori transcendent omniscient knowledge as the highest source of knowledge and all other empirical proposition are regarded as true if they correspond to the object. In other words, propositions are relegated to an inferior position in the hierarchy of the five levels of knowledge. And this clearly shows the struggle to ascend from naturalism to non-naturalism.

3. However, Jaina metaphysics can be characterised as natural because, (a) it does not

accept a deity who either creates or sustains the universe; (b) karma itself is material. It acts in a physical way literally entering the soul; (c) The Jaina cosmology has certain naturalistic elements in it, such as, all the elements outside of aloka come in contact with material elements.

4. But the acceptance of the non-naturalistic elements can also be seen when they maintain that the world of loka consists of matter made up of atomic particles that are outside the consciousness of the individual knowing the world.

Therefore Jainism unqualifiedly accepts the independent givenness of the external world of objects as known by sense perception and, furthermore, allows infiltration of the external world, as karmic particles, into the soul of the individual. This is an important step toward acceptance of the unity of Mind and Body.

### **References**

- 1 Cf. P. T. Raju, *Metaphysical Theories in Indian Philosophy, Essays in East-West Philosophy*, ed. C. A. Moore, Honolulu, Hawai Press, 1951, p. 215.
- 2 *Samavayanga*, 15; 193; 199. It also refers to similar passages in the *Sthananga* and the *Bhagavati Sutra*. Quoted in *Pre-Buddhistic Indian Philosophy*, B.M. Barua, p. 403.

- 3 Cf. Surendranath Das Gupta; History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 68.
- 4 Pancasthikaya Samayasara, 48.
- 5 Ibid, 41.
- 6 Pancasthi Kaya samaya sara. 43,
- 7 Umasvatis Tattvartha Sutras, I. 31, P. 42.
- 8 See Jaini, (Umasvati) I. 21.
- 9 S. C. Ghosal, Nemichandra, p. 56.
- 10 Ibid., p. 51.
- 11 Cf. Stevenson, The Heart of Jainism, p. 174.
- 12 J. L. Jaini, The Heart of Jainism : A Review, p. 40
- 13 Jaini, Umasvati II. 30.

### **Bibliography**

1. Ghosal, S. C. ( ed. and Trans. ) Nemichandra Siddhanta Chakravarti, Dravyasamgraha, The Sacred books of the Jainas, The Central Jaina Publishing House, 1917.
2. Hermann Jacobi ( Tr. ) Gaina Sutras, Sacred Books of the East, Vol. X, Charles Scribner's Sons, New York, 1901.
3. Jagamander Lal Jaini, Outlines of Jainism, Cambridge University Press, 1940.
4. Jagamander Lal Jaini, (Ed. and Trans.), Sri Umaswami (Umaswati) Acharya Tattvarthigama Sutra, The Sacred Books of the Jainas, Vol. II; The Central Jaina Publishing House, 1920.
5. Radhakrishnan, S., Indian Philosophy, George Allen and Unwin, 1948.
6. Raju, P.T., "Metaphysical Theories in Indian Philosophy" Essays in East-West Philosophy, Ed. C. A. Moore, Honolulu; University of Hawai Press, 1951.
7. Stevenson, S., The Heart of Jainism, London, Humphrey Milford, 1915.

□ □

# Mathematical Foundations of Karma Quantum System Theory-II\*

---

L. C. Jain

---

## Abstract

In the Jaina School of Mathematics, from the Karma theory, a mathematical theory of biophysical automaton can be developed on the basis of mutual actions and reactions between the reproductive fields of the becomings of a mundane soul and state existential Karma it carries, through a dynamical system with input functions, inputsets, state transition functions, state sets, output functions and output sets. This article probes deep into the structural functionality of the related and corresponding fluents (Dravyas) each of which possess an internal and external field ( Nimitta ) all over the flow of time. The simultaneous occurrence of events in the controls of each fluent being thus an independent phenomenon, the

theory of Karmic inflow, bond, outflow and the state transition evolves as a unified theory of a quantum dynamical system or a set of quantum dynamical systems, including Newtonian concept of simultaneous interactions.

As in the previous paper, the state existence of Karmas is depicted through a triangular matrix, whereas the input and output are represented by column and row matrices, and measured respectively.

## Introduction

The biophysical automaton in the Jaina School of Mathematics not only reproduces but also controls the bond, creation and annihilation of Karmic matter, and controls many other phenomena pertaining to the self-rep-

---

\* The mathematical details have not been published.

duced Karma. The theory is based on the ab-aeterna union of a soul with a set of kinetically and potentially harmonized particles of matter with affine and antiaffine as well as neutral touch controls, whose observables give opportunity to our senses and instruments to record the maps of becomings of a soul only to a certain extent. The maps are correspondences between becomings of the controls of the corresponding fluents, called into play of some natural phenomena. The effectual becomings depend on the mutual internal and external fields of each individual fluent, allowing to frame a theory of independent existence and transformation, own as well as extra.

The two fundamental extra becomings of a mundane soul responsible for self-reproduction and other phenomena are the Volition (Yoga) and Affection (Kaṣāya). The quanta-measure of volition and affection are well defined in the detailed commentaries of Gommatsāra, Labdhisāra and Kṣapaṇāsāra. Similarly there are four fundamental extra-becomings (Vibhāvas) of a particle of matter brought or reproduced into Karmic bond. They are; (i) a functional structure in dynamic motion : nature ( Prakṛti ), (ii) a set functional structure of harmonious matter particles : point bond ( Pradeṣa Bandha ), (iii) a functional impartation structure :

impartation intensity ( Anubhāga ), (iv) a functional stay structure : ( Sthiti ). The first two functionalities are due to the mutual fields of the volition of the soul and the moving particle in question. The last two functionalities are due to the mutual fields of the affection of a soul and the affinity levels of the particle in question. Thus the cogglomeration of such endowed karmic particles with their fields become the cause of extra-becomings of the mundane soul transforming due to its internal and external fields.

### **The System Theory of Biophysical Automaton**

For an approach to this article, the contribution by Kalman, Rashevsky and Todaramala will be helpful.

First one may analyze an input column matrix, thrown into the state existence matrix every instant which fills up the linear continuum of the flow of time ( cf. Jain ). This is a Samaya-Prabaddha, divided into nisusus ( Nisekas ) per unit of instant according to their stay. The column matrix, corresponding to various natures in different slabs of a third dimensional altitude, is constituted of Nisusus which at any instant form an ordered distribution according to each of its duration stay period, with variable stay duration, with vari-

able impartation intensity, with variable number of particles and with variation in the nature under restriction to certain laws of Karmic bonds etc. The four types of variability is due to or depends on the variations of volitions and affections which in turn depend upon the variation in the output of Karmic decay or annihilation. The Samaya-Prabaddha may be a multiple according to the controls exercised or applied by the mundane soul which may be subject to certain dependant and certain independent variables of controls. Thus a Nisus may be considered as a Karmic system variable depending upon the volition and affection, and as a function of four dependent variables : nature, stay, points, impartation which depend upon the measures of valition and affection.

The instant - effective - bond ( Samaya-Prabaddha ) is a variable quantity of input particles of matter (Pudgala) and the variable set lies between the set of emancipated souls and the set of non-emancipable souls. The distribution of the Nisusus is according to the least, intermediate and greatest stay. The nisus having the least stay forms the first element of the input column matrix and the nisus having the greatest stay forms the last ele-

ment of the input column matrix. The time lag is also necessary to be considered in case of the seven types of Karma, excluding the eighth nature (longevity). Thus the cells of the input matrix accomodate different types of nisusus of different stays, with various sets of particles, having different impartation intensities. The slabs in the altitude dimension of the three-fold Karma matrix will have different natures amounting to non-summable set. Thus a nisus may be treated as a tensor of third rank and its position in the input column matrix will depend upon its life stay which may range from nature to nature differently. The nisusus are so arranged as to have the lowest intensity of impartation at the bottom of the input column matrix, and to have the highest intensity at the top of the input column matrix. Any perturbation consequently and subsequently changes the cell-position of the corresponding nisusus now representing the state transition matrix. The perturbation may be due to volition or affection or any other physical or chemical condition.

The state matrix and the output matrix-sets may also be described in the same way as the input matrix above, and the description given in the earlier paper.



## उत्तराध्ययन के संदर्भ में : भदन्तजी के चिन्तन की मीमांसा

□ मुनि दुलहराज

जैने अभी-अभी तुलसी प्रज्ञा ( त्रैमासिक पत्र ) का अप्रैल-जून का अंक देखा। उसमें बौद्ध धर्म व दर्शन के मनीषी विद्वान् भदन्त आनन्द कौशल्यायन का लेख—“उत्तराध्ययन सूत्र—एक नयी दृष्टि” पढ़ा। लेखक ने उत्तराध्ययन सूत्र में व्यवहृत अनेक शब्दों की अर्थ-परम्परा की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। यह उनके स्वतन्त्र चिन्तन-मनन का ही परिणाम है। उनकी अपनी एक पृष्ठभूमि है और वह है बौद्ध दर्शन की। उनका यह कथन बहुत ही यथार्थ है कि श्रमण परम्परा की दो समसामयिक धर्म परम्पराएं—जैन और बौद्ध—एक दूसरे से इतनी अनुस्यूत हैं कि उनमें अनेक स्थलों पर अभेद है। भेद भी अवश्य है पर वह कालावधि में वृद्धिगत होता हुआ प्रतीत होता है। उद्गम में दोनों में बहुत बड़ा भेद नहीं था। अतः जैन आगमों में व्यवहृत अनेक शब्दों की अर्थ-परम्परा जैन साहित्य में सुरक्षित नहीं है, बौद्ध साहित्य में सुरक्षित है। इसी प्रकार बौद्ध त्रिपिटकों के अनेक शब्दों की अर्थ परम्परा जैन साहित्य में सुरक्षित है। अतः एक दूसरे का तुलनात्मक अध्ययन दोनों दर्शनों के विद्वानों के लिए अनिवार्य हो जाता है।

आज जैन और बौद्ध परम्परा में इतना भेद आ चुका है कि प्रथम दर्शन में ऐसा लगता ही नहीं कि वे एक ही श्रमण परम्परा की दो शाखाएं हैं। इस भेद का कारण है बौद्ध दर्शन का भिन्न-भिन्न देशों में परिव्रजन।

विद्वान् लेखक ने अपने प्रस्तुत लेख में अन्यान्य बातों के साथ इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उत्तराध्ययन सूत्र में जो 'आत्मवाद' की बात कही जाती है, वह स्वतः प्राप्त नहीं है, आरोपित है। वे लिखते हैं—“जिस प्रकार बौद्ध-संस्कृति में किसी ईश्वर-आत्मा तथा परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं, उसी प्रकार उत्तराध्ययन अनुमोदित श्रमण संस्कृति में किसी भी ईश्वर, आत्मा तथा परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं। सारे उत्तराध्ययन सूत्र में कोई एक भी गाथा नहीं, किसी एक भी गाथा की कोई एक भी पक्ति ऐसी नहीं और किसी एक भी पक्ति का एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिसका अर्थ ईश्वर—आत्मा तथा परमात्मापक लगाया जा सके।

कोई भ्रम न रहे इसलिये हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ईश्वर से हमारा अभिप्राय उस कालानिक अस्तित्व से है, जिसके बारे में प्रतिगदित किया

जाता है, 'कर्तुं, अकर्तुं अवयथा कर्तुं शक्यते' सः ईश्वरः है तथा 'आत्मा' से हमारा अभिप्राय उसी प्रकार के काल्पनिक अस्तित्व से है, जिसे अत्रर, अमर आदि विशेषणों से लाद दिया जाता है और जिसके बारे में कहा जाता है कि यह आग से जलता नहीं, पानी से गीला नहीं होता और हवा से सूखता नहीं, आदि ।' १

जैन दर्शन विषयक उनकी यह मान्यता भ्रामक है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य-स्वरूप, परिणामी-स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला, कर्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्ति से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह परिमाण, न अणु, न विभु ( व्यापक ) किन्तु मध्यम परिमाण का है ।<sup>२</sup>

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसका आदि, मध्य और अन्त आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आचार्य से पूछा—'ज्ञान, दर्शन और चारित्र क्या है?' आचार्य ने कहा—'आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है।' जैन साधना पद्धति का आदि-बिन्दु है कर्मयुक्त आत्मा और अन्तिम निष्पत्ति है कर्ममुक्त आत्मा। आवृत्त आत्मा को अनावृत्त करता हुआ साधक एक दिन उसे पूर्ण अनावृत्त कर देता है। वह स्वयं आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

भारतीय चिन्तन प्रवाह की दो धाराएं हैं— क्रियावादी धारा और अक्रियावादी धारा। हमारे शब्दों में हम कहें तो आत्मवादी धारा और अनात्मवादी धारा या भौतिक धारा। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले क्रियावादी और इन पर विश्वास नहीं करने वाले अक्रियावादी कहलाये। जैन एकान्ततः क्रियावादी दर्शन है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नहीं काल्पनिक संज्ञा मात्र मानते हैं। उनके अनुसार चेतना एक प्रवाह है जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होता है। इससे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष में विश्वास करते हैं।

ऐसी स्थिति में उनका यह प्रश्न कि कहीं यह 'आत्मवाद' उत्तरकालीन ब्राह्मणी परम्पराओं द्वारा तो आरोपित नहीं है, स्वयं आधारशून्य है।

उत्तराध्ययन ८।१६ की गाथा का अन्तिम चरण है—'इइ दुष्पूरए इमे आया'—इतना दुष्पूर है यह आत्मा। यहां आत्मा से तात्पर्य है, संसारी जीव न कि विशुद्ध आत्मा। अतः यह लिखना कि 'लोभाभिभूत होना आत्मा का धर्म ही नहीं'—यह विशुद्ध आत्म तत्त्व के लिए हो सकता है, संसारी जीव के लिए नहीं।

भदन्त जी का यह तर्क कि उत्तराध्ययन सूत्र में जो 'अप्पारा' 'अप्पाणमेव' 'अप्पा'—आदि शब्द आये हैं, उनसे आत्मवाद का ग्रहण होता है, यह आधारशून्य है, आत्मा के तीन मुख्य अर्थ हैं—आत्मा, शरीर और स्व-अपना। आगमों में ये तीनों अर्थ प्राप्त हैं। जैसे—

१. से आया ( अप्पा ) बाई—आयारो १।५ : यहां अप्पा का अर्थ अखण्ड चेतन द्रव्य है।

२. अप्पाणां वोसिरामि ( आवश्यक सूत्र ) इसमें अप्पा ( आत्मा ) का अर्थ है—शरीर । पूरे पद का अर्थ होगा—‘मैं शरीर का व्युत्सर्ग करता हूँ अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूँ ।’

३. ० ततोऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ॥ [ उत्ता० २०।३५ ]

० विणए ठवेज्ज अप्पाणां [ उत्ता० १।६ ]

यहां आत्मा का अर्थ स्वयं—अपने को है । इसी प्रकार आगमों में अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थ में ‘अप्पा’ शब्द का प्रयोग हुआ है । सर्वत्र उससे आत्मवाद का ग्रहण नहीं हो सकता ।

भदन्तजी की यह मान्यता कि आत्मवाद ब्राह्मणी परम्परा का प्रभाव है—यह उचित नहीं है । क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्यायन में भृगु पुरोहित और उसके पुत्रों का संवाद है । भृगु पुरोहित नास्तिक मत की बात कहता हुआ आत्मवाद का खण्डन करता है । तब उसके पुत्र आत्मवाद का मण्डन करते हुए कहते हैं—‘आत्मा अमूर्त’ है इसलिए यह इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है । यह अमूर्त है इसलिए नित्य है । आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है ।’ (उत्ता० १४/१६)

पिता ब्राह्मण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है और पुत्र श्रमण संस्कृति के आधार पर चर्चा करते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र में आत्मवाद का स्वर स्थान-स्थान पर गुंजित होता है । अतः यह आरोपित नहीं, स्वतः प्राप्त है ।

‘धम्मं च पेसलं तच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणां’ (उत्ता० ८/१६) इसका अर्थ है—भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे । यहां ‘अपनी आत्मा’ का तात्पर्य है ‘अपने आपको’ । यह नैरात्मवाद पर आत्मा का निष्प्रयोजन आरोप नहीं है—जैसा कि भदन्तजी कहते हैं । यहां आत्मवाद की बात ही नहीं है ।

इसी प्रकार ‘अप्पाचेव दमेयव्वो’ (उत्ता० १/१५) यह गाथा भी आत्मवाद की निरूपक गाथा नहीं है । भदन्तजी द्वारा जो अर्थ किया गया है, वह सुन्दर है, स्वतः प्राप्त है ।

भदन्तजी ने अपने लेख में लिखा है—‘उत्तराध्ययन सूत्र में भी कदाचित् भगवान् महावीर को कहीं भी ‘सर्वज्ञ’ नहीं कहा गया है ।’ (पृ० ३)

यह कथन यथार्थ नहीं है । उत्तराध्ययन सूत्र के तेवीसवें अध्यायन में ७८वीं गाथा में गणधर गौतम केशीकुमार श्रमण से कहते हैं—उगओ खीणसंसारो, सब्बन्नु जिणभक्खरो । ‘जिसका संसार क्षीण हो चुका है और जो सर्वज्ञ है, वह अर्हत् रूपी सूर्य उग गया है ।’ यहां भगवान् महावीर को ‘सर्वज्ञ’ कहा गया है । इसी प्रकार भदन्तजी ने जो गाथा उद्धृत की है, वह उत्तराध्ययन के छठे अध्यायन की सतरहवीं गाथा है । उसमें भगवान् महावीर के विशेषण के रूप में जो तीन शब्द हैं—अणुत्तरनग्गी, अणुत्तर-



दंसी और अणुत्तरनाणदंसराधरे—ये तीनों शब्द सर्वज्ञता के द्योतक हैं। अनुत्तरज्ञानी—केवलज्ञानी, अणुत्तरदंसी—केवलदर्शनी और अणुत्तरनाणदंसराधरे—केवल ज्ञान और दर्शन के धारक अर्थात् सर्वज्ञ। ये शब्द सर्वज्ञ के अर्थ में जैन आगमों में बहु व्यवहृत हैं।

## ताई

जैन आगमों में 'ताई' शब्द अनेक बार व्यवहृत हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र में पांच बार (८/४; ११/३१; २१/२२; २३/१०) और दशवैकालिक में सात बार (३/१; १५; ६/२०, ३६ ६६, ६८; ८/६२) सूत्रकृतांग में भी यह अनेक बार आया है (१/२/२/१७, २४; १/१४/२६, आदि-आदि)। टीकाकारों ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—तायी और त्रायी। 'तायी' के दो अर्थ प्राप्त हैं।

१. सुदृष्ट मार्ग की देशना के द्वारा शिष्यों का संरक्षण करने वाला।<sup>३</sup>
२. मोक्ष के प्रति गमनशील।<sup>४</sup>

इसी प्रकार त्रायी के अनेक अर्थ हैं।<sup>५</sup> इन सभी अर्थों में 'रक्षक' का अर्थ ही गभित है। यद्यपि हमने सर्वत्र 'आत्म-रक्षक' अर्थ ही स्वीकार किया है, फिर भी उत्तराध्ययन सूत्र के ८/४ में प्रयुक्त—'पासमाणो न लिप्पई ताई' के प्रसंग में 'ताई' शब्द पर टिप्पण लिखते हुए 'तादि' के अभिप्राय को संगत माना है।<sup>६</sup> इस विषय में भदन्तजी का सुभाव सुन्दर है।

## गन्थं

'सध्वं गन्थं कलहं च' (उत्त० ८/४) में ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह किया है—ऐसा भदन्तजी को किसी अनुवाद संस्करण में पढ़ने को मिला है। किन्तु यह पता नहीं कि वह संस्करण कौन-सा है। हमारे द्वारा अनूदित संस्करण में हमने 'गन्थं' का अर्थ 'ग्रन्थियों' किया है, जो कि प्रकरण-संगत है। उत्तराध्ययन ८/१२ की गाथा इस प्रकार है—

'पन्ताणि चैव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।  
अदु वुक्कसं पुलागं वा, जवणट्टाए निसेवए मन्थुं ॥

इसका अर्थ है—भिक्षु जीवन यापन के लिए प्रान्त (नीरस) अन्नपान, शीतपिंड, पुराने उड़द, सारहीन या रुखा भोजन या मन्थु (बैर या सत्तू का चूर्ण) का सेवन करे।

इसमें प्रान्त भोजन का विधान है। प्रान्त का अर्थ है नीरस भोजन। जैन परम्परा के अनुसार गच्छवासी मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त भोजन मिलने पर उसे खाए ही, उसे कभी न फेंके। गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) मुनि के लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रान्त भोजन ही करे। अतः इस श्लोक में प्रयुक्त प्रान्त शब्द नीरस भोजन का वाचन है और आगे प्रयुक्त होने वाले सभी शब्द उसी की पृष्टि करते हैं। जैन आगमों में अनेक स्थलों में मुनि के विशेषण के रूप में 'अन्तप्रान्तभोजी' शब्द आता

है। इस प्रसंग में बौद्ध साहित्य में प्रचलित 'पंताणि' शब्द का 'एकान्त' अर्थ उपयुक्त नहीं लगता।

उत्तराध्ययन १२/३३ के दूसरे चरण के अन्त में 'भूइपन्ना' शब्द आया है। भदन्तजी का मानना है कि यह पालिभाषा का 'भूरिप्रज्ञ' है, जिसका अर्थ है विपुलप्रज्ञ। यहां यह ध्यान देना है कि भूरिप्रज्ञ अर्थ की निष्पत्ति के लिए 'भूरिपन्ना' शब्द अपेक्षित है। वह किसी भी प्राचीन प्रति में उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में इस शब्द को बदला नहीं जा सकता। एक बात है कि 'भूइपन्ना' का एक अर्थ अनन्त ज्ञानी भी है, जो कि विपुलप्रज्ञ का ही वाचक है। अतः अर्थसाम्य होने पर भी शब्द भेद मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती।

उत्तराध्ययन १४/३१ के चौथे चरण का अन्तिम शब्द है—'पहाणमगं'। इसका अर्थ है—मोक्ष मार्ग। मोक्ष-मार्ग को हम तात्पर्यार्थ में—समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग भी कह सकते हैं। अतः यहां इसका अर्थ प्रधान मार्ग (मोक्ष मार्ग) करना अयथार्थ नहीं है। आवश्यक सूत्र में निर्ग्रन्थ प्रवचन के विशेषण के रूप में 'सव्वदुक्ख-प्पहीणमगं' शब्द आता है। इसका अर्थ है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन समस्त दुःखों के क्षय का मार्ग है। तात्पर्यार्थ में 'पहीणमगं' और 'पहाणमगं' में कोई अन्तर नहीं है।

उत्तराध्ययन ५/४ में 'कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कुराइं कुव्वई' यह पाठ है। यहां 'बाल' शब्द का अर्थ 'अज्ञानी मनुष्य' है।

जिस हिन्दी संस्करण में इसका अर्थ 'अज्ञानी आत्मा' किया है, वहां भी आत्मा का अर्थ मनुष्य ही अभिप्रेत होना चाहिए।

इसी प्रकार ५/१६ में 'बाले संतस्सई भया' का हमने अर्थ 'अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संतस्त्र होता है', किया है।

भदन्तजी ने पृ० ९ पर उत्तराध्ययन की निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत की है—

बहुं खु मुग्गिणो भद्, अणगारस्स भिक्खुणो।

सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥ (९/१६)

हमने इसका अर्थ यह किया है—

सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं'— इस प्रकार एकत्वदर्शी, गृहत्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।

इस गाथा में भदन्तजी को 'सव्वओ विप्पमुक्कस्स 'एगन्तमणुपस्सओ' आदि शब्दों से एकान्तवाद की झलक मिलती है। इसीलिए उन्होंने यह व्यंग लिखा है— 'अनेकान्त में यह एकान्त कैसा ?'

यहां भदन्तजी को समझने में भूल हुई है। जैन परम्परा में भावनाओं का बहुत महत्व है। मुख्य रूप में वे बारह हैं—अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना आदि-आदि। उपर्युक्त श्लोक में एकत्व भावना का निरूपण है। एकत्व भावनानुगत साधक सोचता है—'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है—'एकोऽह, न

मे कश्चित् । अतः यहां एकान्तवाद या अनेकान्तवाद की चर्चा ही नहीं है ।

भदन्तजी एक बात और कहते हैं कि (जैनों में) पृथ्वी आदि को सजीव मानने की रूढ़ी पड़ गई है । 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि छहों पदार्थों को सजीव मानना उत्तरकालीन आरोपित मत भी हो सकता है । वे लिखते हैं—

'उत्तराध्ययन सूत्र का कहना है कि पृथ्वी इसी अर्थ में सजीव है, क्योंकि पृथ्वी में सूक्ष्म जीव रहते हैं, जल भी इसी अर्थ में सजीव है, क्योंकि उसमें जीव रहते हैं, अग्नि भी इसी अर्थ में सजीव है, क्योंकि लकड़ी-उपलों आदि में जीव रहते हैं और वायु भी इसी अर्थ में सजीव है, क्योंकि वायु में भी जीव रहते हैं ।'

पता नहीं भदन्तजी ने इसे उत्तराध्ययन का मत कैसे कहा । जैन दर्शन की यह मान्यता है कि विश्व में मूल दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव । जीव के दो प्रकार हैं—त्रस और स्थावर । स्थावर के पांच प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति । 'इनमें जीव रहते हैं'—यह एक बात है और 'ये जीव हैं' यह एक बात है । जैन दर्शन की यह मान्यता है कि पृथ्वी आदि स्वयं जीवों के पिण्ड हैं । इनके आश्रित रहने वाले जीव स्थावर नहीं त्रस होते हैं । अतः इन्हें सजीव मानने में यह तथ्य नहीं है कि—इनमें जीव रहते हैं, किन्तु यह तथ्य है कि ये स्वयं जीव हैं । इनमें आधार—आधेय सम्बन्ध नहीं है ।

भदन्त जी ने 'आहारोवहि सेज्जाए' ( उक्त० २४।११ ) में 'ओवहि' शब्द की कल्पना कर उसका अर्थ औषधि करने का सुभाव दिया है । यहां मूल शब्द 'ओवहि' नहीं है 'उवहि' है, जिसका अर्थ उपधि होता है, औषधि नहीं । 'आहारोवहि' शब्द आगमों में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त होता है । इसमें दो शब्द हैं—आहार+उवहि । आहार का अर्थ है—भोजन-पान और उपधि का अर्थ है—मुनि चर्चा में उप-योगी उपकरण ।

भदन्त जी ने यह लिखा है कि जैन मुनि के लिए चिकित्सामात्र का निषेध है और इस मत की पुष्टि के लिए उत्तराध्ययन सूत्र २।३३ की गाथा उद्धृत की है—

'तेग्च्छं नाभिनदेज्जा, संचिक्खत्तगवेसए ।

एवं खु तस्स सामणं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

इसका अर्थ है—आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे । रोग ही जाने पर समाधिपूर्वक रहे । उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए ।

यह विधान समस्त साधुओं के लिए नहीं है । जैन आगमों में साधकों की अनेक श्रेणियां प्रतिपादित हैं । उनके उत्सर्ग अपवाद वाले अनेक विधि-विधान मिले-जुले रूप में मिलते हैं । अतः सब विधानों को एक ही श्रेणी के साधकों पर लागू नहीं किया जा सकता ।

साधकों की दो प्रमुख श्रेणियाँ हैं—जिनकल्प और स्थविर कल्प । वि० की ११वीं शताब्दी के महान् टीकाकार शान्त्याचार्य ने लिखा है उपर्युक्त विधान जिनकल्प की साधना करने वाले मुनियों के लिए है । वे स्वयं न चिकित्सा करते हैं और न करवाते हैं । स्थविरकल्पी मुनि रोगी होने पर भी सावद्य चिकित्सा का आश्रय न ले ।

इसलिए जैन मुनि के लिए चिकित्सा मात्र का निषेध नहीं है, सावद्य अर्थात् हिंसाकारी चिकित्सा का निषेध है ।

भदन्तजी ने उत्तराध्ययन ६।८ की गाथा में प्रयुक्त 'आयरियं विदित्ताणं' का अर्थ आर्य सत्त्यों का ज्ञान किया है । वे लिखते हैं—'आयरियं' आर्य-सत्त्यों का ही पर्याय हो सकता है, भले ही प्रयोग आलोचनात्मक हो ।

'आयरियं' शब्द के दो मुख्य संस्कृत रूपान्तर होते हैं—आचरितं और आचार्यं । चूर्णिकार ने इसका अर्थ—आचरित किया है और हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ आचार्य किया है । किन्तु उत्तराध्ययन के प्रशस्त टीकाकार शान्त्याचार्य ने इसका रूप 'आर्यम्' दिया है और 'आर्यम्' का अर्थ तत्त्व किया है ।<sup>७</sup> यहां तत्त्व से अभिप्राय है—दुःख, दुःखहेतु, मोक्ष और मोक्षहेतु का ज्ञान । यह बौद्ध परम्परा में सम्मत चार आर्य-सत्त्यों के निकट है । भदन्तजी की यह कल्पना अति कल्पना नहीं मानी जा सकती ।

भदन्तजी ने अपने लेख में लिखा है—'श्रमण परम्परा अहिंसा-मूलक थी और उसे यज्ञों का विरोध अभिप्रेत था । पशुओं की बलि का विरोध तो आसान था, क्योंकि उसमें जीव माना जाता था । तब अहिंसक यज्ञों का—पशु-बलि रहित यज्ञों का—विरोध कैसे किया जाए ? एक ही सहज तर्क था—भौतिक पदार्थों को भी सजीव मान लिया जाए । पृथ्वी सजीव है, अग्नि सजीव है, वायु सजीव है—निर्जीव कुछ है ही नहीं ।' ( पृष्ठ ६ )

यह अभिमत केवल कल्पनाजनित है, तथ्यपरक नहीं । यहां मैं मुनि नथमल जी द्वारा सद्यःलिखित 'श्रमण महावीर' ग्रन्थ के एक उद्धरण को प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिससे यह स्पष्ट उद्घोषित होता है कि उस समय जैन श्रमण हिंसक यज्ञ के स्थान पर अहिंसक यज्ञ का उपदेश कर रहे थे ।

महावीर का दृष्टिकोण सर्वग्राही था । उन्होंने सत्य को अनन्त दृष्टियों से देखा । उनके अनेकान्त-कोष में दूसरों की धर्म-पद्धति का आक्षेप करने वाला एक भी शब्द नहीं है । फिर वे यज्ञ का प्रतिवाद कैसे करते ?

उनके सामने प्रतिवाद करने योग्य एक ही वस्तु थी । वह थी हिंसा । हिंसा का उन्होंने सर्वत्र प्रतिवाद किया, भले फिर वह श्रमणों में प्रचलित थी या वैदिकों में । उनकी दृष्टि में श्रमण या वैदिक होने का विशेष अर्थ नहीं था । विशेष अर्थ था अहिंसक या हिंसक होने का । उनके क्षात्र हृदय पर अहिंसा का एक-छत्र साम्राज्य था ।

उस समय भगवान् के शिष्य अहिंसक पक्ष का सन्देश जनता तक पहुँचा रहे थे। हरिकेश मुनि ने यज्ञवाट में कहा— 'ब्राह्मणो ! आपका यज्ञ श्रेष्ठ यज्ञ नहीं है।

'मुने ! आपने यह कैसे कहा कि हमारा यज्ञ श्रेष्ठ नहीं है ?'

'जिसमें हिंसा होती है, वह श्रेष्ठ यज्ञ नहीं होता।'

'श्रेष्ठ यज्ञ कैसे हो सकता है, आप बतलाएं हम जानना चाहते हैं।'

'जिसमें इन्द्रिय और मन का संयम, अहिंसा का आवरण और देह का विसर्जन होता है, वह श्रेष्ठ यज्ञ है।'

'क्या आप भी यज्ञ करते हैं ?'

'प्रतिदिन करता हूँ।'

मुनि की बात सुन रुद्रदेव विस्मय में पड़ गया। उसे इसकी कल्पना नहीं थी। उसने आश्चर्य के साथ पूछा— 'मुने ! तुम्हारी ज्योति कौन सी है ? ज्योति-स्थान कौन-सा है ? घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं ? अग्नि को जलाने के कड़े कौन-से हैं ? ईंधन और शांति-पाठ कौन-से हैं ? और किस होम से तुम ज्योति को हुत करते हो ?'

इसके उत्तर में मुनि हरिकेश ने अहिंसक यज्ञ की व्याख्या की। वह व्याख्या महावीर से उन्हें प्राप्त थी।<sup>८</sup>

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली दो प्रमुख परम्पराएँ—जैन और बौद्ध—में अभेद अधिक, भेद कम हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। दोनों का उत्पत्ति क्षेत्र और कर्मक्षेत्र एक रहा है। दोनों का उद्गम अहिंसा और करुणा को प्रतिष्ठापित करने के लिए हुआ है। दोनों की निष्पत्ति समता में हुई है। अतः दोनों एक दूसरे की पूरक हैं।

भदन्तजी बौद्ध-जगत् के विश्रुत मनीषी हैं। उनके कुछ सुभाष अवश्य ही मननीय हैं। इस लघु निबन्ध में मैंने भदन्तजी द्वारा प्रस्तुत चिन्तन के विषय में कुछ तथ्य उपस्थित किये हैं।

## सन्दर्भ

१ तुलसी प्रज्ञा (अप्रैल-जून ७५), पृ० २।

२ मुनि नथमल, जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० २४४।

३ दशवैकालिक, हारिभद्रिया वृत्ति पत्र २६२।

तायोऽस्यास्तीति तायी,तायः—सुहृष्टभागोक्तिः, सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः।

४ सूत्रकृतांग, वृत्ति पत्र ३६६ : मोक्षां प्रति गमनशील इत्यर्थः।

५ देखिये, दशवेआलियं (सानुवाद संस्करण) पृ० ४७, ४८।

६ देखिये, उत्तरजम्भयणासि (टिप्पण संस्करण) पृ० ६६।

७ देखिये, उत्तरजम्भयणासि (टिप्पण संस्करण) पृ० ५३।

८ श्रमण महावीर, पृ० १५६, १५७।

○ ○

## डा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

जैन विद्या मनीषी डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के निधन पर जैन विद्या परिषद के षष्ठ अधिवेशन में शोक प्रस्ताव के साथ श्रद्धांजलि अर्पित की गई ।

प्राकृत, जैन तथा प्राचीन भारतीय विद्याओं के अन्त-राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अप्रतिम वयोवृद्ध विद्वान एवं अद्वितीय प्राध्यापक, संशोधक, भाणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञान-पीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला, जीवराज जैन ग्रन्थमाला आदि ग्रन्थमालाओं के प्रधान सम्पादक, आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, अलीगढ़ सेशन के जनरल प्रेसिडेंट, राष्ट्रपति द्वारा संस्कृत के उत्कृष्ट अध्यापक के रूप में सम्मानित एवं मैसूर विश्वविद्यालय में जैनीलोजी और प्राकृत विभाग के प्रथम अध्यक्ष, जैन विश्व भारती लाडनू द्वारा आयोजित जैन विद्या परिषद के छठे राष्ट्रीय अधिवेशन के पूर्व मनोनीत अध्यक्ष डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कोल्हापुर में आकस्मिक दुःखद निधन से हम सभी को गहरा आघात लगा है । जैन विद्या परिषद के जयपुर अधिवेशन में समवेत हम सब स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और कामना करते हैं कि उनके शोक संतप्त परिवार को तथा हम सब को भी उनके अभाव को भेलने की सामर्थ्य प्राप्त हो ।

# जैन विश्व भारती, लाडलून ( राजस्थान ) का वार्षिक प्रतिवेदन

दिनांक १६ सितम्बर १९७५

आदरणीय अध्यक्ष महोदय एवं जैन विश्व भारती के सदस्यगण,

दिनांक २२ अगस्त १९७० को जैन विश्व भारती का संविधान सरकार से पंजियन करा लिया गया था। पांच वर्ष व्यतीत हो गये। प्रातःस्मरणीय आचार्य-प्रवर का यह चिन्तन चल रहा था कि ऐसा कोई संस्थान हो, जहाँ जैन एवं प्राच्य विद्याओं का अध्ययन भली प्रकार से हो सके। जब भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी की समयोजना हुई, समाज के प्रबुद्ध लोगों ने आचार्यप्रवर के विचारों को "जैन विश्व भारती" की स्थापना कर साकार रूप दिया। जैन विश्व भारती की परिकल्पना, जैन विद्या की शिक्षा, शोध और साधना के विशाल संस्थान के रूप में की गयी है। ऐसे संस्थानों का निर्माण व उनका विकास कोई साधारण कार्य नहीं था पर प्रसन्नता की बात है कि गत पांच वर्षों में आचार्यप्रवर के आशीर्वाद से, कार्यकर्ताओं के उत्साह से तथा समाज के सभी लोगों के सहयोग से यह संस्थान तीव्र गति से विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है। गत पांच वर्षों में जैन विश्व भारती की प्रवृत्तियां विशेष रूप से भूमि प्राप्ति, चहारदीवारी-निर्माण, भवन-निर्माण, साहित्य-निर्माण, साहित्य-प्रकाशन, साहित्य-क्रय और कार्यकर्ताओं के संयोजन में लगी रहीं। अखिल भारतीय स्तर के जैन दर्शन परिषद के कई अधिवेशन, कई साधना शिविरों द्वारा ध्यान का अभ्यास, छात्र-वृत्ति देना, 'अनुसंधान पत्रिका' बाद में 'तुलसी प्रज्ञा' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन, पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों की विशेष शिक्षा की व्यवस्था करना, बिजली-पानी व टेलिफोन की लाइन विश्व भारती तक पहुंचाना तथा जैन विश्व भारती का स्वयं का अपना पाठ्यक्रम निर्धारित करना आदि इसकी प्रमुख उपलब्धियां रही हैं। इनके विस्तार में न जाकर गत वर्ष जो कार्य हुआ है, उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं।

जैन विश्व भारती की समस्त प्रवृत्तियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए संस्था के चतुर्थ अधिवेशन दिनांक १० जुलाई ७४ को विभिन्न विभागों का गठन किया गया। प्रत्येक विभाग का कार्य प्रगति विवरण इस प्रकार रहा—

## १. भूमि प्राप्ति व भवन निर्माण ( निदेशक : श्री बच्छराज जी पगारिया व श्री चम्पालाल जी दूगड़ )

इस वर्ष जैन विश्व भारती के दक्षिण-पश्चिमी कोने की जमीन साढ़े छः बीघा चार बिस्वा ( २६६२० गज ) रुपये १५५००) में खरीद की गई है, जिसका पूरा हजया देकर संस्था के नाम से जमीन का रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है तथा पत्थर की पट्टियां खड़ी करके इस जमीन को संस्था के कब्जे में ले लिया गया है। ग्रन्थागार भवन की फिनिशिंग आदि जो भी कार्य बकाया था उसे पूरा कर लिया गया है। बिजली फिटिंग, पखों की फिटिंग तथा सेनितरी फिटिंग आदि का कार्य भी सम्पूर्ण कर लिया गया।

जयपुर निवासी श्री मन्नालाल जी सुराणा के अनुदान मे अतिथि भवन निर्माण कार्य मात्र ६ महीने में पूरा कर लिया गया। इस भवन निर्माण में कुल व्यय हजया १,०४,३०३)६१ पैमे हुआ है व इसके अलावा करीब दस हजार के जमा खर्च अभी होना शेष है तथा पानी कनेक्शन व बिजली फिटिंग का कार्य अभी बाकी है। इस अनुदान के लिए संस्था की तरफ से दानदाता श्री मन्नालाल जी सुराणा को मैं हादिक धन्यवाद देता हूं तथा आशा करता हूं कि भविष्य में भी इनका सह-योग संस्था को बराबर मिलता रहेगा।

दो कार्यकर्ता-कुटीर व एक गोदाम का निर्माण-कार्य भी इसी वर्ष में कराया गया। इसका अनुदान सुजानगढ़ निवासी श्री मोहनलाल जी चोरडिया ने देना स्वीकार किया है। इसके लिए विश्व भारती की तरफ से उनको हादिक धन्यवाद ज्ञापन करता हूं। इस भवन को "भूमर कुटीर" नाम दिया गया है।

हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि भारत के उपराष्ट्रपति महामहिम बी० डी० जती ने दिनांक २३ मार्च ७५ को इन दोनों भवनों का उद्घाटन अपने कर-कमलों से करके हमें कृतार्थ किया जिसकी विस्तृत रिपोर्ट अलग से पेश है। उपराष्ट्रपति जी के कर-कमलों से उसी दिन श्री गौतम ज्ञान शाला महिला विद्यापीठ तथा तुलसी अध्यात्म नीडम् आदि भवनों का शिलान्यास कार्य भी सम्पन्न हुआ।

राजस्थान सरकार के वित्त मन्त्री श्री चन्दनमल जी बंद का भी आभार मानता हूं कि इस उद्घाटन अवसर पर पहली पट्टी से विश्व भारती तक की सड़क का निर्माण तत्काल करवा कर न केवल विश्व भारती बल्कि पूरे लाडनू नगर की शोभा बढ़ायी है।

अभी कुछ दिनों पहले एक स्थायी माली की नियुक्ति की गयी है। विश्व भारती के रेतीले प्रांगण को हरा-भरा बनवाने के लिए सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगा दिये गये हैं तथा छोटी-मोटी कई क्यारियों में पौधे लगाये जा रहे हैं।

राजलदेसर निवासियों के दान से बनने वाले भवन "गौतम ज्ञान शाला" का निर्माण-कार्य भी शुरू करवा दिया गया है। इसकी नींवें खुद कर भरी जा चुकी



हैं अब आगे का कार्य भी द्रुत गति से चल रहा है। इस वर्ष के अन्त तक सम्पूर्ण भवन बन कर तैयार हो जाने की आशा है।

इस विभाग के निदेशक श्री बच्चराराज जी पगारिया व श्री चम्पालाल जी दूगड़ बड़ी लगन से अपना बहुमूल्य समय देकर विश्व भारती की सेवा कर रहे हैं। उनके सहायक श्री मांगीलाल जी खटेड़ व एक चौकीदार सदैतनिक इन कार्यों की देखभाल करते हैं।

## २. आगम-कोष संग्रह व प्रकाशन विभाग ( निदेशक : श्री मोहनलाल जी बांठिया )

आगमों में प्रतिपादित विषयों पर कोष ( इनसाइक्लोपीडिया ) निर्माणाधीन है। पुद्गल कोष तथा संयुक्त लेश्या कोष ( दिग्म्बर-श्वेताम्बर ) का संकलन सम्पूर्ण हो गया है। दोनों कोषों को प्रेस में छपने दे दिया गया है। ध्यान कोष का संकलन भी प्रारम्भ हो गया है। निदेशक महोदय श्री मोहनलाल जी बांठिया के अस्वस्थ रहने से कार्य तीव्र गति से नहीं हो पाया। इतने अस्वस्थ रहते हुए भी वे बड़ी लगन से इस कार्य को पूरा करने की चेष्टा कर रहे हैं। दो-दो सौ रुपये मासिक वेतन पर नियुक्त श्री श्रीचन्द जी चोरड़िया तथा श्री अमीरी ठाकुर इनके सहायक हैं।

## ३. आगम व साहित्य प्रकाशन ( निदेशक : श्री श्रीचन्द्र जी रामपुरिया )

युग-प्रधान आचार्यश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में तथा मुनिश्री नथमल जी आदि कई विद्वान संतों के निरन्तर प्रयास से यह कार्य द्रुत गति से आगे बढ़ा है। इस विभाग के निदेशक श्री श्रीचन्द्र जी रामपुरिया ने अथक परिश्रम करके १५ ग्रन्थों का प्रकाशन बड़ी कुशलता व सूझ बूझ से सम्पन्न किया है। इनमें से १३ ग्रन्थ प्रकाशित होकर आये हैं। २ ग्रन्थ अभी प्रेस में छप रहे हैं। इन ग्रन्थों की छपाई की सभी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस प्रकाशन कार्य में शुरू से अब तक कुल ₹.२१,५०५)४५ रुपये व्यय हुए हैं। अब तक कुल ₹.६३,५६५)०८ रुपये का साहित्य विक्री हुआ है, जिनमें ₹.०८,३२८)१३ रुपये प्राप्त हो गये हैं, बकाया रुपये भी धीरे-धीरे आ रहे हैं।

गत वर्ष में आचार्यप्रवर के दिल्ली चातुर्मास-प्रवास में जैन विश्व भारती द्वारा आयोजित ग्रन्थ विमोचन समारोह बड़े ही भव्य वातावरण में सम्पन्न हुआ है जिसका उद्घाटन भारत के उपराष्ट्रपति महोदय महामहिम श्री बी० डी० जत्ती साहब ने सम्पन्न किया। इसकी भी विस्तृत रिपोर्ट अलग से पेश है। इस विभाग में सदैतनिक कार्य करने वाले हैं— (१) श्री जायसवाल (२) श्री रघुवीर शर्मा (३) श्री मन्नालाल जी बोरड़ ( निःशुल्क सेवा )।

## ४. ग्रन्थालय ( निदेशक : श्री श्रीचन्द्र जी रामपुरिया व श्री जयचन्दलाल जी कोठारी )

इस वर्ष पुस्तकें बहुत कम खरीदी गई हैं। इस बार ३३६ पुस्तकें मूल्य रुपये ४४७७)४७ की खरीद हुई हैं इसके अलावा आचार्यश्री को भेंट में प्राप्त लगभग १५० पुस्तकें भी विश्व भारती को मिली हैं। पुस्तकालय का अति आव-

इसके फर्नीचर व रैक्स आदि करीब २५,०००) रुपयों के खरीद किये हैं। सभी पुस्तकों नये ग्रन्थालय भवन में सुरक्षित रख दी गई हैं। अभी पुस्तकों साधु-साध्वियों, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही दी जा रही हैं। सर्वसाधारण जनता द्वारा पुस्तकों के पढ़ने की मांग बराबर रहती है। इसके लिए एक ट्रैंड लायब्रेरियन रख कर इस सम्बन्धी नियम आदि बना कर सारे कार्य को व्यवस्थित कर लेने की अत्यन्त आवश्यकता है। अभी कुल पुस्तकों ५१५७ हैं जिनका मूल्य ६१,४२२)०३ पैसे लगा है। पुस्तकों का चयन अच्छा हुआ है। दर्शकों का तांता लगा रहता है। महामहिम उप-राष्ट्रपति जी ने काफी देर तक पुस्तकों को देख कर टिप्पणी की है "ए रेयर कलेक्शन ऑफ बुकम।" अभी पुस्तकों की देखरेख का कार्य एक क्लर्क श्री कन्देयालाल वर्मा कर रहे हैं। साहित्य बिक्री का हिसाब भी इन्हीं के जिम्मे है।

#### ५. तुलसी अध्यात्म नीडम् व साधना प्रशिक्षण विभाग ( निदेशक : स्व० डा० मन्नालाल जी बंद )

इस विभाग के निदेशक श्री मन्नालाल जी बंद के निधन से संस्था की अपार क्षति हुई है। आपने पिछले सभी साधना शिविरों का बड़ी कुशलता से संचालन किया था। जैन विश्व भारती के समस्त सदस्यों, कर्मचारियों व शुभचिन्तकों की तरफ से उनको हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

गत वर्ष में स्वर्गीय डा० मन्नालाल जी बंद के निदेशन में दो साधना शिविर दिल्ली में लगे जिसमें एक साधना शिविर श्री गोयनका जी की विपश्यना पद्धति से लगा जो १० दिनों तक चला।

अभी कुछ महीनों पहले दिनांक १-३-७५ से श्री सत्यनारायण जी गोयनका के तत्वावधान में विपश्यना पद्धति से दो शिविर लाडनू में जैन विश्व भारती के प्रांगण में लगे थे। प्रथम शिविर ११-३-७५ को सम्पन्न हुआ था। इनमें देश-विदेश के साधकों के अतिरिक्त, दो बौद्ध भिक्षु तथा साधु-साध्वियों ने भी बड़ी संख्या में भाग लिया। पारमार्थिक शिक्षण संस्था की कई बहिनों ने भी इसमें भाग लेकर साधना का लाभ उठाया। दूसरा शिविर दिनांक ११-३-७५ से २१-३-७५ तक चला। जैन विश्व भारती के ग्रन्थालय भवन व अतिथि भवन में इसकी पूरी व्यवस्था की गई थी। साध्वीवृन्द के निवास स्थान के लिये स्वास्थ्य निकेतन का उपयोग हुआ। शिविरों का वातावरण, खान-पान व व्यवस्था सभी को बड़ी रुचिकर लगी। शिविरों की देखरेख व व्यवस्था श्री धर्मचन्द जी लूणियां व श्री जोधराज जी दूगड़ ने की। दूसरे शिविर की देखरेख में श्री उमरावचन्द जी मेहता का बड़ा सहयोग रहा। दिल्ली अंचल कार्यालय के तत्वावधान में व मुनिश्री किशनलाल जी के सान्निध्य में "मानसिक तनाव और आत्मानुशासन" विषय पर अध्यात्म संगोष्ठी का आयोजन इस वर्ष जुलाई में हुआ। भारतीय संस्कृति की अन्तर्राष्ट्रीय अकादमी के निदेशक तथा संसद सदस्य डा० लोकेशचन्द्र गोष्ठी के अध्यक्ष थे।

## ६. शिक्षण प्रशिक्षण ( निदेशक : श्री जबरमल जी भण्डारी व

सह-निदेशक : श्री सम्पतमल जी जैन )

इस विभाग द्वारा पारमाथिक शिक्षण संस्था की बहिनों के विशेष प्रशिक्षण के लिये गत अप्रैल मास तक ६००) ६० प्रतिमाह के हिसाब से दिये गये हैं ।

हाल ही में जयपुर में शिक्षा सम्बन्धी विद्वानों की एक गोष्ठी का आयोजन आचार्यप्रवर के सान्निध्य में किया गया । मुनिश्री नथमल जी व मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी आदि कई संतों के मार्गदर्शन में कई दिनों तक विचार विमर्श चलता रहा । अब जैन विश्व भारती का स्वयं का अपना नया पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया गया है ।

## ७. शोध विभाग ( निदेशक : डा० महावीरराज जी गेलड़ा )

गत वर्ष दिल्ली में आचार्य प्रवर के सान्निध्य में एक अखिल भारतीय जैन दर्शन परिषद का सम्मेलन डा० महावीरराज जी गेलड़ा के निदेशन में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ, जिसका उद्घाटन भारत सरकार के तत्कालीन संचार मंत्री डा० शंकर-दयाल जी शर्मा ने किया । इस सम्मेलन में देश के प्रायः सभी प्रांतों से जैन दर्शन के विद्वानों ने भाग लिया । जर्मनी से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन दर्शन विद्वान श्री एल० एल्सडोर्फ भी इसमें भाग लेने भारत आये जिन्हें जैन विश्व भारती की तरफ से 'विद्या मनीषी' की उपाधि से विभूषित किया गया ।

जैनीलोजिकल रिसर्च सोसायटी के साथ मिलकर सन् १९७४ में २५ मई से ८ जून तक दिल्ली विश्वविद्यालय में समर स्कूल फार जैनीलोजिकल रिसर्च का आयोजन किया गया । इसमें संस्था ने ४०००)०० ( चार हजार रुपयों ) का अनुदान दिया ।

इस विभाग के अन्तर्गत डा० गेलड़ा जी के सम्पादन में एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन-कार्य बड़ी कुशलता से चल रहा है । पहले अनुसंधान पत्रिका के नाम से प्रकाशन होता था पर अब सरकार द्वारा 'तुलसी प्रज्ञा' के नाम से स्वीकृति मिलने पर इसका प्रथम व द्वितीय अंक प्रकाशित हो चुके हैं । 'अनुसंधान पत्रिका' के प्रकाशन पर ५३६३)८२ ६० खर्च हुये थे । इस वर्ष 'तुलसी प्रज्ञा' के प्रकाशन पर १५६२)७४ ६० खर्च हो चुके हैं । कुछ खर्चों की विगत निदेशक महोदय से अभी मिलनी शेष है ।

## ८. वित्त विभाग समिति

१. श्री खेमचन्दजी सेठिया
२. श्री राजमलजी जीरावला
३. श्री जाउमलजी घोड़ावत
४. श्री मोतीलाल जी नाहटा व
५. श्री मोहनलालजी संचेती (निदेशक)

वित्त विभाग का कार्य है—जैन विश्व भारती की समस्त स्वीकृत प्रवृत्तियों के लिये आवश्यक धन जुटाना । मुझे यह कहते हुये खुशी होती है कि धन के अभाव

में कोई कार्य अधूरा नहीं रहा ।

जैन विश्व भारती का स्वयं का एक स्थायी रिजर्व फण्ड होना इसके उज्ज्वल भविष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है । अपन सभी को इसके लिये अथक परिश्रम करके इस को शीघ्र पूरा कर लेना चाहिये ।

**६. दिल्ली अंचल कार्यालय** (निदेशक : श्री श्रीचन्द जी रामपुरिया,  
सह-निदेशक : श्री स्वरूपचन्द जी जैन)

गत वर्ष आचार्य प्रवर के दिल्ली चातुर्मास काल में इस कार्यालय ने बड़ी लगन व तत्परता से कार्य किया । इस विभाग के सह निदेशक श्री स्वरूपचन्द जी जैन बड़े ही कुशल व लगनशील कार्यकर्ता हैं जो निःशुल्क अपनी सेवाएँ विश्व भारती को दे रहे हैं । जैन विश्व भारती के जैन विद्या परिषद तथा ग्रंथ विमोचन समारोह आदि विभिन्न अवसरों पर इसकी उपयोगिता दृष्टिगोचर हुई । जैन विश्व भारती सम्बन्धी प्रचार विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध, साहित्य बिक्री तथा भारत सरकार से सम्बन्ध हेतु इस विभाग की उपयोगिता है ।

इस विभाग में अभी एक टाइपिस्ट व एक पियोन कार्य कर रहे हैं । अणुव्रत भवन की तीसरी मंजिल में जैन विश्व भारती का दिल्ली अंचल कार्यालय कार्य कर रहा है । दिल्ली में विराजित संत मुनियों से भी इसका पूरा सम्पर्क रहता है । गत वर्ष दिल्ली अंचल कार्यालय मद में कुल २३,६२५)२३ रुपये व्यय हुये हैं । स्थान अणुव्रत विहार की ओर से निःशुल्क मिला हुआ है, जिसके लिए हम अणुव्रत न्यास के हृदय से आभारी हैं ।

**१०. योजना व विकास विभाग** (निदेशक : श्री नथमल जी कठोटिया)

इस वर्ष एक नये विभाग का गठन दिनांक ५-१-७४ को कार्यकारिणी मीटिंग में किया गया । इस विभाग का नाम योजना व विकास विभाग किया गया । इसके निदेशक श्री नथमल जी कठोटिया ने अपनी कर्मठ कार्यक्षमता से अल्पकाल में ही अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है । इस विभाग के निदेशन में पहली पट्टी से जैन विश्व भारती तक की सीधी सड़क जो ४२ फुट चौड़ी है, का रास्ता निकाला गया । रास्ते में कई लोगों की जमीनें थीं । उन सब व्यक्तियों से व्यक्तिगत रूप से मिलकर सीधे रास्ते के लिये अपनी जमीनें स्वतः दान करने के लिये जमीन मालिकों से आग्रह किया गया । मैं जैन विश्व भारती की तरफ से निम्न महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी जमीनों को ४२ फुट चौड़ी सड़क निर्माण के लिये देकर एक आदर्श प्रस्तुत किया है—

१. श्री शुभकरण जी दस्साणी
२. श्री सुपारसमल जी चोरड़िया
३. श्री जाउमल जी कन्हैयालाल जी व मूलचन्द जी घोड़ावत
४. श्री मालचन्द जी वैद
५. श्री मन्नालाल जी भंसाली

६. श्री रायचन्द जी जीतमल जी व माणकचन्द जी बंद

७. श्री कृपाचन्द जी यति ।

इसके अलावा जैन विश्व भारती की कृषि भूमि को आबादी में परिवर्तित कराने का प्रयत्न भी चालू है ।

### हिसाब-किताब :

जैन विश्व भारती के हिसाब-किताब वगैरह पहले तो श्री भंवरलाल जी दूगड़ देखते थे बाद में श्री बच्छराज जी पगारिया इसे सम्भालते रहे । अभी श्री चम्पालाल जी दूगड़ इसे देखते हैं । गत वर्ष मार्च मास तक के हिसाब आडिट हो गये हैं । आडिट रिपोर्ट आपके सामने है । आडिट में सभी हिसाब ठीक पाये गये हैं । आयकर रिटर्न भर दिये गये हैं । आयकर रियायत के नवीनीकरण के लिये प्रयास जारी है । ( पीछे से आयकर रियायत का नवीनीकरण ३१-३-७६ तक का होकर आदेश कार्यालय को मिल चुका है । ) इस वर्ष लाडनूँ स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर में एक बचत खाता खोला गया है जिसमें ११,००१ ) रुपये जमा दिये गये हैं । हिसाब-किताब का सारा कार्य स्थाई कर्मचारी श्री चांदमल भोजक कर रहे हैं । जहां तक मैंने उनको देखा व परखा है—वह कार्यकुशल हैं ।

### जैन विश्व भारती कार्यालय :

गत पांच वर्षों से कार्यालय सचिव श्री रामस्वरूप जी गर्ग की देखरेख में कार्यालय का कार्य बड़े सन्तोषजनक ढंग से चल रहा है । कार्यालय को निजी भवन में शिफ्ट करते समय, श्री गोयनकाजी के शिविर सम्बन्धी दिनों में तथा भवनों के उद्घाटन आदि दिनों में अत्यधिक भार इस कार्यालय कर्मचारियों पर कार्य का रहा है । उन दिनों में बाहर के पत्रों आदि का उत्तर देने में कुछ विलम्ब हुआ है । कार्य सचिव की सहायता के लिये एक टाइपिस्ट श्री हीरालाल भाटी सेवा में नियुक्त हैं । टाइप कार्य के अलावा जो भी कार्य इन्हें दिया जाता है वे कुशलता से करते हैं । एक स्थायी चपरासी श्री सचियालाल नाई व एक अस्थाई क्लर्क श्री तेजकरण बोधरा अभी सर्वैतनिक कार्य कर रहे हैं ।

### सदस्यता :

संस्था की सदस्यता-वृद्धि की तरफ ध्यान दिया जाना चाहिये । गत १० जुलाई १९७४ को संस्था की सदस्यता संख्या इस प्रकार थी :—

संरक्षक सदस्य	२०
आजीवन सदस्य	८२
साधारण सदस्य	३२
कुल	१३४

आज दिन संस्था की सदस्य संख्या इस प्रकार है :—

संरक्षक सदस्य	२०
आजीवन सदस्य	१०१
साधारण सदस्य	४०
कुल	१६१

इस तरह वर्ष में १६ सदस्य आजीवन व ८ सदस्य साधारण ( कुल २७ सदस्य ) नये स्वीकृत हुये हैं। इनमें से ६ सदस्य दिवंगत हो जाने से यह संख्या इस समय १५५ की है।

अपने अनुदान के आधार पर निम्न अनुसार दान-दाताओं को संस्था के सहयोगी घोषित किया गया है:—

परम संरक्षक	२
संरक्षक	८
हितैषी	४६
कुल	५६

इनमें से एक परम संरक्षक, ३ संरक्षक व १६ हितैषी इस वर्ष १० जुलाई ७४ के पश्चात घोषित हुये हैं।

### धन्यवाद ज्ञापन :

जैन विश्व भारती की तरफ से निम्नलिखित को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी सभी का सहयोग विश्व भारती को बराबर मिलता रहेगा।

- १— राजलदेसर निवासियों को 'गीतम ज्ञानशाला' के निर्माण हेतु डेढ़ लाख रुपया के अनुदान घोषणा के लिये, जिसमें से लगभग ५०,०००/- रुपये प्राप्त भी हो चुके हैं।
- २— मित्र परिषद कलकत्ता को तुलसी अध्यात्म नीड़म् के 'साधना भवन' के हॉल हेतु निर्माण के लिये ६०,०००/- रुपयों के अनुदान की घोषणा के लिये जिनमें से रुपये ३०,०००/- प्राप्त हो चुके हैं।
- ३— अखिल भारतीय तेरापंथ महिला परिषद् की ओर से 'महिला विद्यापीठ' के निर्माण हेतु सवा लाख रुपये की अनुदान राशि घोषणा में से रुपये ८,६००/- प्राप्त हुये हैं।
- ४— गंगाशहर निवासी श्री लखपतराय बोथरा ने साधारण स्थिति में होते हुये भी संस्था को रुपये ११,०००/- का अनुदान भिजवाया है, व अन्य संस्थाओं की भी उदारतापूर्वक सहायता की है, बड़ा महत्व रखता है।
- ५— सरदारशहर निवासी श्री संचियालाल जी छाजेड़ ने भी अपनी साधारण स्थिति होते हुए भी अपनी मातृश्री की स्मृति में संस्था को एक हजार रुपये प्रदान किये हैं।

संस्था के सभी परम संरक्षक व हितैषी महानुभावों, सदस्यों व अन्य सभी दान-दाताओं का, द्रष्टों का मैं हार्दिक आभारी हूँ जिनके अर्थ-सहयोग से संस्था का इतना निर्माण-कार्य अब तक हो सका है। संस्था के अध्यक्ष महोदय जिनका मार्गदर्शन सभी कार्यों में बराबर मिलता रहा है, सभी उपाध्यक्षों का, उपमंत्री-द्वय का तथा कोषाध्यक्ष व संचालिका समिति के शेष सदस्यों का भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे निरंतर दो वर्षों तक विश्व भारती की सेवा का मौका दिया। सभी विभागीय निदेशकों व कार्यालय के सभी कर्मचारियों को भी मैं धन्यवाद देना हूँ, जिनके कठिन परिश्रम से जैन विश्व भारती की सारी प्रवृत्तियां सुचारु रूप से चल रही हैं। अन्य उन सभी लोगों का भी हृदय से आभार मानता हूँ जिनके नाम का उल्लेख नहीं कर पाया हूँ व जिनका सहयोग मुझे बराबर मिलता रहा है।

जैन विश्व भारती की तरफ से इस कार्यालय में जो भी त्रुटि रही है, किसी भी व्यक्ति का किसी तरह का विश्व भारती के प्रति कोई आक्षेप या असंतोष रहा है या अन्य किसी कारण से नाराजगी रही है, उसकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूँ। जाने-अनजाने में मेरे किसी कार्य से किसी के हृदय को ठेस पहुँची है तो उसके लिये भी हार्दिक क्षमा-याचना करता हूँ।

जय तुलसी ! जय विश्व भारती !

सम्पतराय भूतोड़िया,  
मंत्री

जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)

जैन विश्व भारती, लाडनू के बढ़ते चरण में आप भी  
सहयोग कर सकते हैं।

- ◆ सदस्य बनें—१. परम संरक्षक २. संरक्षक ३. हितैषी
- ◆ भवन निर्माण में आर्थिक अनुदान करें।
- ◆ आगम आदि प्रकाशन योजना में सहयोग करें।
- ◆ 'तुलसी प्रज्ञा' त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका के सदस्य बनें। आजीवन सदस्य २०१ रु०, वार्षिक शुल्क २२ रु०, एक अंक का ६ रु०।
- ◆ अन्तर्राष्ट्रीय विश्व मंत्री सम्मेलन की योजना में आर्थिक अनुदान करें।
- ◆ साधना में समर्पित करें; आदि।

## विश्व मंत्री एवं विश्व-शांति के सन्दर्भ में

### अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन

भगवान महावीर का २५००वां निर्वाण महोत्सव समग्र विश्व के लिए एक ऐतिहासिक अवसर है। ऐसे ऐतिहासिक अवसर ही महात् पुरुषों की वाणी को समग्र विश्व में फैलाकर समग्र मानव-जाति के कल्याणार्थ उसका उपयोग करने के लिए उद्युक्त होते हैं। भगवान महावीर ने जिन अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्तों का सन्देश २५०० वर्ष पूर्व जगत् को दिया था उनकी वर्तमान विश्व की परिस्थितियों के सन्दर्भ में कितनी अधिक आवश्यकता और उपयोगिता है, यह किसी से छिपा नहीं है। अहिंसा के आधार पर विश्व-मंत्री, अनेकान्त के आधार पर सह-अस्तित्व और अपरिग्रह के आधार पर शोषण-संग्रह विहीन व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। हिंसक शस्त्रास्त्रों की विभीषिका से त्रस्त मानव-जाति को त्राण देकर इन सिद्धान्तों के आधार पर विश्व-शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

इस कार्य को मूर्त रूप देने की दृष्टि से युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक विशेष कार्यक्रम की घोषणा की है। आचार्य प्रवर द्वारा घोषित इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की दृष्टि से जैन विश्व भारती के अन्तर्गत विदेश सम्पर्क विभाग की स्थापना की गई है तथा एक विराट् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की योजना बनाई गई है। तेरापथ समाज के नवोदित युवा कार्यकर्ता एवं इण्टरनेशनल जेसीज के भारत के उपाध्यक्ष श्री सुमेर फूलफगर जैन (बम्बई) इसके निदेशक मनोनीत किए गए हैं।

#### योजना एवं गतिविधि

इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की रूपरेखा पर विचार-विनिमय करने की दृष्टि से पिछले चार महीनों से कुछ बैठकें आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में जयपुर में आयोजित की गईं, जिनमें पर्याप्त विचार-विनिमय के पश्चात् निम्नलिखित निर्णय लिए गए हैं—

(१) विश्व मंत्री एवं शांति पर एक बृहद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में आगामी वर्ष (१९७६) के अन्त में भारत की राजधानी में किया जाय।



(२) यह कार्य जैन विश्व भारती के विदेश सम्पर्क विभाग के तत्वावधान में किया जाय ।

(३) इस कार्यक्रम को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न उप समितियों का गठन किया जाय ।

(४) इस कार्यक्रम को तीन क्रमिक सोपानों में बांटा जाय—

प्रथम सोपान में विभिन्न देशों के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के व्यक्तियों की सूचियां तैयार की जाएं तथा प्रारम्भिक साहित्य का निर्माण विदेशी भाषाओं में किया जाय ।

दूसरे सोपान में पत्र-व्यवहार के माध्यम से उनसे सम्पर्क किया जाय । उन्हें साहित्य भेजा जाय तथा उनकी प्रतिक्रियाएं जानी जाएं ।

तीसरे सोपान में सम्भवतः १९७६ के मार्च-अप्रैल-मई में एक प्रतिनिधिमण्डल द्वारा विभिन्न देशों की यात्रा की जाय तथा व्यक्तिशः सम्पर्क के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए सशक्त वातावरण बनाया जाय ।

इन तीन सोपानों के बाद आगामी वर्ष के अन्त में नई दिल्ली में उक्त सम्मेलन का आयोजन किया जाय ।

(५) इस समग्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक अर्थ-संग्रह की भी एक योजना बनाई गई है । लगभग दस लाख के व्यय का अनुमान किया गया है । चालीस व्यक्तियों द्वारा २५-२५ हजार की जिम्मेवारी लिए जाने पर उक्त राशि प्राप्त की जा सकती है । जिम्मेवारी लेने वाले व्यक्ति चाहें तो केवल स्वयं ही और चाहें तो अन्य अपने सम्पर्क के व्यक्तियों से संग्रहीत कर उक्त राशि प्रदान कर सकते हैं ।

प्रसन्नता और उत्साह की बात है कि इस कार्यक्रम को बढ़ाने में प्रारम्भ से ही लगने वाले श्री जेठमल जी फूलफगर ( खादू निवासी ), श्री खुशीलाल जी दक ( व्यावर निवासी ) तथा श्री संचियालाल जी डागा ( बीदासरं निवासी ) ने स्वयं से ही अर्थ-प्रदान का कार्य प्रारम्भ किया है तथा प्रत्येक ने २५-२५ हजार की घोषणा की है । उक्त तीनों ही सज्जन बम्बई में रहते हैं । जयपुर निवासी श्री निर्मल कुमार सुराणा ( सुपुत्र : श्री मन्नालाल जी सुराणा ), श्री निर्मलकुमार दूगड़ ( सुपुत्र श्री धनराजजी दूगड़ ) आदि युवकों ने भी अपने सहयोग का आश्वासन दिया है ।

प्रथम सोपान का कार्य ३० अक्टू. ७५ तक पूर्ण हो जाने की सम्भावना है । श्री सुमेर जैन एवं उनके साथी सतत् रूप से कार्य में संलग्न हैं और आशा है कि सारे कार्यक्रम जैसे निर्धारित किए गए हैं, वैसे ही पूर्ण होते जायेंगे । अपेक्षा है समाज के समर्थ लोगों से—और विशेषतः युवकों से— कि वे आचार्य प्रवर के स्वप्न को साकार करने के लिए सम्पूर्ण रूप से सक्रिय होकर अपना सहयोग करेंगे ।

—महेन्द्र जैन

## जैन विद्या परिषद् का षष्ठ अधिवेशन

जयपुर—१०, ११ व १२ अक्टूबर को जैन विश्वभारती, लाडनूँ द्वारा आयोजित जैन विद्या परिषद् का त्रिदिवसीय छठा अधिवेशन सम्पन्न हुआ। अधिवेशन में देश की विभिन्न शिक्षण संस्थाओं से आए हुए चालीस विद्वानों ने भाग लिया। परिषद् के निदेशक डा० महावीर राज गेलड़ा ने स्वागत-भाषण पढ़ा।

अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए जैन धर्म के मूर्धन्य दार्शनिक मुनि श्री नथमल जी ने कहा—जैन धर्म मानता है कि वस्तु अनन्त पर्याय वाली है; अनन्त विरोधी युगल तत्त्वों से युक्त है। ये अनन्त पर्याय शोध के विषय हो सकते हैं। इसलिए विद्वानों का जो डर है कि कुछ ही वर्षों में शोध की सामग्री खत्म हो जायेगी, वह ठीक नहीं है।

उन्होंने कहा—आज विद्वानों में ज्ञान के साथ अहिंसा का आकर्षण भी बढ़ रहा है। फलस्वरूप आज विद्वान सम्प्रदायातीत होकर अध्ययन एवं चिन्तन करते हैं। जैन विद्या परिषद् को जैन विद्या का मंच कहना ठीक नहीं होगा। मेरा अनुभव है कि जैन विद्या को समझने के लिए वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं आधुनिक विज्ञान का भी अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रमुख अतिथि राजस्थान विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने आज की शिक्षा पद्धति के बारे में विस्तृत चर्चा की। उन्होंने बताया कि राजस्थान युनिवर्सिटी के जैन विद्या केन्द्र का उपयोग अन्य विभागों के विद्यार्थी भी कर सकते हैं।

इस त्रिदिवसीय अधिवेशन के अध्यक्ष श्री श्रीचन्द्रजी रामपुरिया ने श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति के साहित्यों पर प्रकाश डाला।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने कहा— विद्वान जब शोध के क्षेत्र में जाता है, उसके सामने बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। कष्ट भी होता है। उपद्रव भी होते हैं। पर वे इन सब को पार करते रहेंगे तो नए-नए सत्य शोध कार्य में उद्घटित होते जाएंगे।

### डा० उपाध्ये को श्रद्धांजलि

इस परिषद् की अध्यक्षता के लिए श्री डा० ए० एन० उपाध्ये मनोनीत हुए थे। लेकिन वे एक हृपते पहले अस्वस्थ हुए और दि० ८ अक्टूबर को उनका देहान्त हुआ। जैन-विद्या के क्षेत्र में उन्होंने बहुत काम किया है। उपस्थित विद्वानों ने उनको श्रद्धांजलि अर्पित की।

इस परिषद् में भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डालने वाले अनेक शोध निबन्ध पढ़े गए। इस वर्ष विद्वानों की गोष्ठी ग्रीन हाउस व्याख्यान स्थल में होने के

कारण श्रावक-श्राविकाओं ने भी गोष्ठी का लाभ उठाया ।

बाहर से आए हुए विद्वानों ने आचार्य श्री के सान्निध्य में एक हार्दिक वातावरण पाया । श्रद्धेय आचार्य प्रवर, मुनि श्री नथमलजी, मुनि श्री नगराजजी, मुनि श्री महेंद्र कुमार जी, साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी, साध्वी श्री कनकश्री का सान्निध्य बराबर प्राप्त होता रहा ।

इस परिषद् में देश के विभिन्न प्रान्तों से चालीस विद्वानों ने भाग लिया ।

रांची से आर० सी० गुप्ता, उदयपुर से डा० एम० एम० मुंडिया, जबलपुर से श्री नन्दलाल जैन, कलकत्ता से डा० समरेश वन्द्योपाध्याय, नागपुर से श्री भागचन्द जैन, नागपुर विश्वविद्यालय से डा० पुष्पलता जैन; चौबीस परगना से डा० जे० आर० हल्दर, उदयपुर से श्री सुरेन्द्र पोखरना, नई दिल्ली से डा० बी० के० नय्यर, जयपुर से डा० कस्तूरचन्द कासली-वाल, मनोहरपुर से डा० प्रेमचन्दजी, उदयपुर से डा० प्रेममुमन जैन, उज्जैन से डा० मनोहरलाल दलाल और डा० कैलाशचन्द्र जैन, खण्डवा से डा० धर्मचन्द जैन, धुरी से श्री एस० एस० लिष्क, खण्डवा से श्री एल० सी० जैन, पटियाला से डा० एस० डी० शर्मा, बनारस से डा० गोकुलचन्द जैन, २४ परगना से श्रीमती नीलिमा राहा, बेंगलोर से डा० श्रीमती रत्ना शिन्धा, धारवाड़ से डा० बी० के० खड्गबड़ी, जोधपुर से डा० नरपतचन्द सिधवी, सागर से डा० कृष्णदत्त वाजपेयी और डा० लक्ष्मीनारायण दुबे, नीमच से श्री देवेन्द्रकुमार शास्त्री, बीकानेर से डा० महावीर राज गेलड़ा (संयोजक), डा० धर्मचन्द, श्री राधागोविन्द शर्मा, कलकत्ता से श्री असीम चटर्जी, बीकानेर से श्री अगरचन्दजी नाहटा, खड़गपुर (आई० आई० टी०) से कस्तूरचन्दजी ललवानी, दिल्ली से श्री एस० सी० जैन, जोधपुर विश्वविद्यालय से डा० महेंद्र कुमार जैन, मुनि श्री नथमलजी, मुनि श्री नगराजजी, मुनि श्री महेंद्रकुमारजी, मुनि श्री श्रीचन्दजी और साध्वी श्री कनकश्री ने भी पेंपर पढ़े ।

अन्तिम गोष्ठी में विद्वानों ने कुछ प्रस्ताव रखे —

(१) डा० ए० एन० उपाध्ये की स्मृति में तुलसी प्रज्ञा का एक विशेषांक प्रकाशित किया जाय ।

(२) भगवान महावीर की जीवनी के विभिन्न पहलुओं पर शोध निबन्धों का संग्रह एक पुस्तक के रूप में जैन विश्वभारती से प्रकाशित किया जाय ।

(३) जैन विद्या परिषद् के अधिवेशनों को भारत के अन्य शहरों में भी बुलाया जाय ताकि सेमिनार की परम्परा पूरे भारत में फैल जाय ।

मुनि श्री नथमलजी ने कहा—इन ढाई हजार वर्षों में हमारे जैनाचार्यों ने सूर्य प्रज्ञप्ति, चंद्र प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जैसे ग्रन्थों को लिखा है, उनका हमें गहराई से अध्ययन करना चाहिए । ज्ञान की गहराई में हमारे आचार्य अपने शुद्ध आचार और विचार एवं ध्यान साधना के द्वारा ही पहुँच सकते थे । इसलिए जैन विश्वभारती के तीन उद्देश्य हैं—शिक्षा, शोध एवं साधना ।

श्री अगरचन्द जी नाहटा ने तीन सुझाव प्रस्तुत किये—

(१) जैन आगमों में जिन-जिन विषयों से सम्बन्धित उल्लेख हैं, उनकी एक सूची तैयार हो।

(२) जैन साहित्य में लोकप्रिय साहित्य प्रचुर मात्रा में है। जैन कथा-साहित्य के मुकाबले अन्य साहित्य नहीं है। अतः जैन साहित्य का भी एक कोश तैयार हो।

(३) जिन विषयों पर शोध (जैन साहित्य में) किया जा सकता है, उनकी भी एक सूची तैयार की जाय ताकि शोध करने वालों को मार्गदर्शन मिल सके।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने कहा—तीन दिन तक यह अधिवेशन प्रसन्नतापूर्ण वातावरण में चला। हमारे श्रावक-श्राविकाओं ने भी इसमें भाग लेकर ज्ञान अर्जन किया है।

मैं चाहता हूँ जैन विश्वभारती एक विश्वविद्यालय के स्तर पर काम करे। इसके लिए विद्वानों का एवं हमारे श्रावक समाज का सहयोग आवश्यक है।

## डा० ए० एन० उपाध्ये और श्रीचन्द रामपुरिया 'जैन विद्या मनीषी' उपाधि से सम्मानित

श्रीचन्द जी रामपुरिया को आज यहाँ जैन विद्या परिषद के द्वारा 'जैन विद्या मनीषी' उपाधि से सम्मानित किया गया। युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने उनकी साहित्य सेवा की प्रशंसा करते हुए कहा—हमारे श्रावक समाज में साहित्य की दिशा में कार्य करने वालों में श्रीचन्द जी रामपुरिया प्रथम व्यक्ति हैं। पिछले ३० वर्षों से उन्होंने बहुत अच्छा काम किया है।

पिछले वर्ष जर्मन विद्वान डा० एल० एल्सडोर्फ को 'जैन विद्या मनीषी' उपाधि से दिल्ली में सम्मानित किया गया था।

डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को भी मरणोपरान्त 'जैन विद्या मनीषी' उपाधि से सम्मानित किया गया। उनके बारे में युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने फरमाया—प्राज्ञ हमारे बीच में डा० उपाध्ये का शरीर नहीं है। लेकिन उनका कर्तृत्व हमारे बीच में है। उन्होंने भारत में अनेक जैन विद्वानों को तैयार किया है और विदेशों में भी जैन विद्या अध्ययन के लिए प्रेरणा दी है।

—डा. महावीर राज गैलड़ा

## समापन समारोह दिनांक १२ अक्टूबर

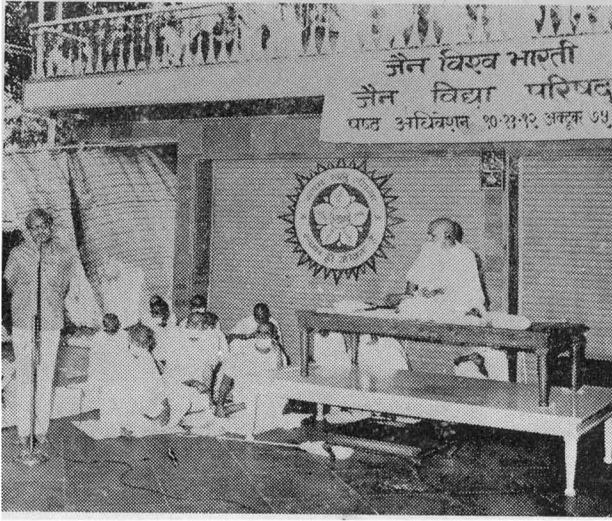
जैन विद्या परिषद के छठे राष्ट्रीय अधिवेशन का समापन समारोह प्रसन्नता के वातावरण में सम्पन्न होने के अवसर पर मैं गहरे सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ। बीज-वपन व प्रस्फुटन के मध्य के अन्तराल में बहुत कुछ घटित होता है किन्तु सब कुछ अदृश्य व अप्रव्यक्त। समक्ष जो प्रस्तुत होता है वह एक पूरी प्रक्रिया का परिणाम होता है। उस



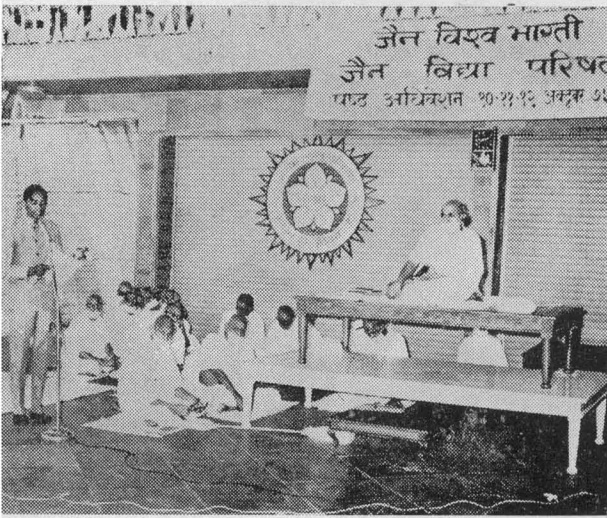
जैन विद्या परिषद के षष्ठ अधिवेशन के अवसर पर परिषद के निदेशक  
डा० महावीरराज गेलड़ा, परिषद के अध्यक्ष जैन विद्या मनीषी  
श्री श्रीचन्द जी रामपुरिया को माल्यार्पण करते हुए ।



जैन विद्या परिषद के अध्यक्ष जैन विद्या मनीषी श्री श्रीचन्द जी  
रामपुरिया, अध्यक्षीय भाषण देते हुए ।



जैन विद्या परिषद के उद्घाटन के अवसर पर मुख्य अतिथि डा० जी० सी० पाण्डे, कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय भाषण करते हुए।



परिषद के निदेशक डा० महावीरराज गोलड़ा स्वागत-भाषण करते हुए।

प्रक्रिया से गुजर कर जो कुछ उपस्थित हो सका है वह अनेकानेक संयोगों, सहयोग व आशीर्वाद का फल है। इस अवसर पर उनका स्मरण एवं कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा कर्तव्य है।

सर्वप्रथम युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के प्रति श्रद्धावनत हो कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके तत्व निर्देशन, सतत प्रेरणा एवं आशीर्वाद से विद्या परिषद फलित हुई है। आचार्य प्रवर ने अपने समस्त कार्यक्रमों को छोड़कर तीन दिन का सम्पूर्ण समय परिषद के लिये दिया। उनकी उपस्थिति मात्र ही प्रेरणा देती है। इस परिषद को तो उनका मार्ग-दर्शन व आशीर्वाद हर क्षण मिलता रहा है। पूरी विद्वत् मण्डली की ओर से प्रणाम एवं कृतकृत्यता का निवेदन करता हूँ। यह अनुकम्पा सदैव प्राप्त होती रहेगी।

मुनिश्री नथमलजी के द्वारा परिषद का औपचारिक उद्घाटन मात्र ही नहीं हुआ वरन निरन्तर पोषण भी प्राप्त हुआ। पण्डित जहाँ भी उलफे सन्त श्री ने वहाँ समाधान प्रस्तुत किया। मुनि श्री के विशद अध्ययन, गहन चिन्तन, पैनी पैठ व अद्भुत अभिव्यक्ति से परिषद को निश्चय ही दिशा प्राप्त हुई है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के समुपयुक्त शब्द नहीं हो सकते।

इस अधिवेशन के पूर्व मनोनीत अध्यक्ष स्व० डा० ए०एन० उपाध्ये की अनुपस्थिति व रिक्तता इस परिषद में अनुभव होना स्वाभाविक है। उनका स्मरण ही हमें अध्यवसाय व निरपेक्ष दृष्टि का बोध कराता रहेगा। उनके अचानक स्वर्गवास के दुखद समाचारों से कठिन स्थिति आ गई परन्तु सौभाग्य से हमें एक योग्य अध्यक्ष श्री श्रीचन्द रामपुरिया के रूप में प्राप्त हुए। मैं उनके प्रति सारी परिषद की ओर से आभारी हूँ। कुलपति डा० जी. सी. पाण्डे के प्रति भी आभारी हूँ जो प्रमुख अतिथि के रूप में हमारे मध्य उपस्थित हुए।

जयपुर जैसी राजधानी में ऐसी विद्वत् परिषद के लिये सब तरह की व्यवस्था करना श्रम के साथ साथ व्ययसाध्य कार्य भी है। श्री मुन्नालाल सुराणा के प्रति जितने धन्यवाद करूँ कम होंगे। किसी भी परिषद के आयोजन में अनेकानेक कार्य आवश्यक होते हैं। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं से हमें हादिक सहयोग प्राप्त हुआ है। आचार्य श्री तुलसी चातुर्मास व्यवस्था समिति के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। श्री पन्ना लाल जी बाँठिया की कार्यक्षमता व त्वरा के साथ सहर्ष किसी भी कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता, सराहनीय है। श्री बाँठिया व उनके सहयोगी उत्साही कार्यकर्त्ताओं को धन्यवाद देकर अपना आभार ज्ञापित करता हूँ। डा० धर्मचन्द भंसाली बीकानेर परिषद के सभी कार्य में मेरे अभिन्न अंग बन कर रहे हैं--दिल्ली में आयोजित परिषद में भी आपने इसी प्रकार कार्य किया था। आप मेरे निकट सहयोगी हैं। धन्यवाद के साथ इनसे तो विनम्र निवेदन है कि आगे भी इसी प्रकार का सहयोग करें।

यह परिषद यथार्थ में तो देश के दूर दूर स्थित संस्थानों व विश्वविद्यालयों के विद्वानों, प्राध्यापकों की उपस्थिति, पत्रवाचन, स्वस्थ चर्चा एवं समीक्षा के द्वारा ही सार्थक हो सकी है। यह अधिवेशन कितना सफल रहा है इसका माप करने का अधिकारी मैं नहीं

आप सब हैं। यह छठा अधिवेशन उद्घाटन से लेकर आज इस समापन वेला तक कुल ७ बैठकों में सम्पन्न हुआ है। इन बैठकों में अन्य प्रवचनोंके अतिरिक्त कुल तीस से अधिक शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। सभी पर उच्च स्तरीय चर्चा हुई। यही तो परिषद की सार्थकता रही है। बहुत ही मुक्त मन व ग्राह्य बुद्धि से मूलतः महावीर के जीवन व दर्शन कुछ अन्य विषयों पर विमर्श हुआ। अभी भी बहुत कुछ शेष है, जो अशेष है, अज्ञात है, अनुद्घाटित है। सन्तोष की बात है कि नई प्रतिभाओं ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। यह भी परिषद की विशेषता रही कि जैन विद्या व विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की ओर रुचि जगाने में सफलता मिली है। प्रस्तुत पत्रों से लगता है कि इस दिशा में हो रहे प्रयास जैन दार्शनिक तत्त्वों को भौतिक विज्ञान की कसौटी पर परखने में सफल होंगे। मैं सभी विद्वान मित्रों को अपनी ओर से हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ। विश्वास करता हूँ कि आपका सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहेगा।

डा. के. सी. जैन, डा. श्रीकृष्ण दत्त वाजपेयी, डा. एस. बन्धोपाध्याय, डा. बी. के. खडबड़ी व डा. जी. सी. पाटनी की कृशल अध्यक्षताओं व डा. प्रेमसुमन जैन, डा. भागचन्द्र जैन, डा. कस्तूर चन्द कासलीवाल, डा. वी. के. नय्यर—उनके सफल संयोजन कार्य के द्वारा परिषद का संचालन किया। मैं उनके प्रति अपनी ओर से बहुत आभारी हूँ। डा. श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी व श्री अगरचन्द नाहटा ने आने अमूल्य सुझाव देकर चर्चाओं को दिशा दी है। श्री प्रवीण चन्दजी जैन व डा. कस्तूर चन्द ललवानी को भी मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने दो समुच्चय भाषण देकर परिषद को लाभान्वित किया।

विश्व भारती के शोध विभाग द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' सभी मित्रों की है। अतः यह अपेक्षा करता हूँ कि सभी विद्वान इसकी स्वयं सदस्यता ग्रहण करें व विभिन्न पुस्तकालयों में इसे मंगाने का आग्रह करें।

मैं पुनः आप सभी को जैन विश्वभारती की ओर से उसके शोधविभाग के निदेशक के रूप में अपनी ओर से आप सभी का कोटि कोटि धन्यवाद करता हूँ, अनुग्रह स्वीकार करता हूँ। आचार्य श्री, मुनि वृन्द को वन्दना व आप सब को अभिवादन प्रस्तुत करता हूँ। धन्यवाद।

**डा. महावीर राज गेलड़ा**  
निदेशक, जैन विद्या परिषद



**HUMBLE TRIBUTE**  
**to the memory of**  
**Prof. Dr. A. N. Upadhye**  
( 1906-1975 )

It pains me to pen an obit. of a lifelong friend. Born in a pious Jain family at Sadalga, an obscure village in Belgaum district (now in Karnataka), Prof. Upadhye worked his way up to become an internationally wellknown scholar of Jainology and Prakrits. Due to his brilliant academic career, he was picked up in Kolhapur State service as Lecturer in the Rajaram College in 1931, where he served as a Professor of Ardhamāgadhī till his retirement in 1962. His students respected him as a good Professor. His edition of Kundakunda's *Pravacanasāra*, a model for aspiring young Prakrit scholars, brought him a D. Litt. from the Bombay University. *Pravacanasāra* was followed by *Paramātmaprakāśa*, *Varāṅgu carita*, *Usāniruddha*, *Tiloyapaṇṇati*, *Brahakathā kośa* and so many other works. His learned Introductions to Sanskrit, Prakrit and Apabhraṃśa works that he edited, the rigorous canons of Prakrit textual criticism that he observed in constituting the text, will go down as a model for generations to come. I have seen how he struggled with the text of the *Kuvalayamālā* for more than ten years. He became a General President of the All-India Oriental Conference at Aligarh. He represented India at various International Oriental Conferences. On this Independence Day, he was honoured as a National Sanskrit scholar. In August when we met, he told me that soon he was going to retire from his job as a Professor and Head of the Department of Jainology in the Mysore University and settle down permanently at Kolhapur. When I told him of a similar decision of mine, he was glad that both of us were to spend our old age at Kolhapur. He then proposed that I should undertake some Apabhraṃśa work for one of his serieses that he was editing and I promised. He went back to Mysore to hand over his charge of Professorship.

.....And on Thursday on 9th October a journalist came to me and broke the news of Upadhye's passing away. Dr. Upadhye was certainly a very great Prakrit scholar but he was definitely greater as a thorough gentleman and greater still as an intimate friend. May his soul rest in peace !

**—Dr. G. V. Tagare**

## लेखकगण

१. डा० लक्ष्मीनारायण दुबे  
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग  
सागर विश्वविद्यालय, सागर
२. मुनि मधुकर  
आचार्य श्री तुलसी के शिष्य  
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी
३. डा० कुमुम पटोरिया  
प्राध्यापक  
श्री कस्तूरबा कन्या महाविद्यालय  
गुना (म० प्र०)
४. डा० रमेश चन्द जैन  
प्राध्यापक, वर्द्धमान महाविद्यालय  
बिजनौर (उ० प्र०)
५. साध्वी मंजुला  
आचार्य श्री तुलसी की शिष्या  
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी
६. डा० बालकृष्ण के० नैयर  
राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली
७. डा० असीम कुमार चटर्जी  
प्राध्यापक, इतिहास विभाग  
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता
८. सज्जन सिंह लिश्क  
एम० डी० शर्मा, प्राध्यापक  
भौतिक विज्ञान विभाग  
पंजाबी विश्वविद्यालय  
पटियाला
९. जी० सुन्दर रमैया  
प्राध्यापक, दर्शन विभाग  
आंध्र विश्वविद्यालय  
वाल्तेयर
१०. एल० सी० जैन  
स्नातकोत्तरीय अध्यक्ष  
गणित विभाग  
राजकीय महाविद्यालय  
खडवा (म० प्र०)
११. मुनि दुलहराज  
आचार्य श्री तुलसी के शिष्य  
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी
१२. श्रीमती गुलाब गेलड़ा  
रानी बाजार  
बीकानेर

## सम्मति

प्रिय श्री गेलड़ाजी,

आपके सम्पादन में निकलने वाली तुलसी प्रज्ञा का दूसरा अंक प्राप्त हुआ । पहला भी आपने भेजा था पर उन दिनों मैं प्रवास में था । वह अंक देखने को नहीं मिला । मेरे साथियों ने कुछ लापरवाही की जिससे मैं उसे देखने से वंचित रहा । पर दूसरा अंक देखा, बहुत अच्छा लगा । यदि आप कृपा कर पहला अंक भी भिजवा सकें तो अनुग्रह होगा । मुझे ये अंक संग्रहणीय लगे । इसलिये कष्ट दे रहा हूँ । आपका प्रयत्न सराहनीय है । जैन विद्या पर आचार्य तुलसी, उनके मुनियों तथा साध्वियों द्वारा साहित्य साधना व आगम अनुसंधान पर काफी अच्छा काम हो रहा है । उस शक्ति का अधिक अच्छा उद्योग करने में तुलसी प्रज्ञा साधन बनेगा और इसके द्वारा जैन विद्या के जिज्ञासुओं को अच्छी सामग्री प्रस्तुत होगी ।

आपका

**रिषभदास रांका**

प्रधान मंत्री, भारत जैन महामण्डल  
फोट, बम्बई-४००००१

.....त्रैमामिक शोध पत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' के दो अंक भी मिले । इसके कुछ लेख पढ़े जो शोधपूर्ण एवं गहन अध्ययन वाले हैं । उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में जो लेख भदन्त आनंद कौसल्यायन का पढ़ा, बहुत ही रुचिकर लगा और एक नई दृष्टि प्रदान की । अब तक उत्तराध्ययन सूत्र को हमने इस दृष्टि से देखा है और न ही बौद्ध और जैन संस्कृति को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है । गत कुछ वर्षों से ध्यान पद्धति में जरूर बौद्ध धर्म से सीखने की कोशिश की जा रही है जिसका जैन साहित्य से लोप हो गया । इस लेख को पढ़ने के बाद यही प्रतिक्रिया हुई कि इस प्रकार और खोजना आवश्यक है और विशद विचार-विमर्श भी वांछनीय है । इसी प्रकार विज्ञान पर भी बहुत सुन्दर लेख इसमें आये हैं । यह पत्रिका अपना कार्य इसी प्रकार चलाती रहे, यही मेरी शुभ-कामना है ।

भवदीय,

**रणजीत सिंह कूमट**

जिलाधीश, अजमेर

## श्री जैन विश्व भारती, लाडनूँ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : आचार्य तुलसी

विवेचक तथा सम्पादक : मुनि नथमल

### आगम ग्रन्थ

१. अंगसुत्ताणि १ (आयारो, सूयगडो, ठारणं, समवाओ)	मूल्य ८५.००
२. अंगसुत्ताणि २ (भगवई : विआहवण्णत्ती)	" ६०.००
३. अंगसुत्ताणि ३ (नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं' विवागसुयं)	" ८०.००
उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर विमर्श "जाव" पूर्ति और उसके आधारस्थल विषयसूची, संपादकीय तथा भूमिका से युक्त प्रत्येक भाग ११००-१२०० पृष्ठ ।	
४. दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण)	" ८५.००
५. ठारणं	" १००.००
६. आयारो—मूलपाठ, अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणों से युक्त ।	" २५.००
७. दसवैकालिक (गुटका) मूलपाठ	" १.००
८. उत्तराध्ययन (गुटका) मूलपाठ ।	" ३.००
९. दसवैकालिक तथा उत्तराध्ययन—मात्र हिन्दी अनुवाद	" १५.००

### आगमेत्तर ग्रन्थ

१. श्रमण महावीर—मुनि नथमल	" १६.००
२. भगवान् महावीर—आचार्य तुलसी	" ५.००
३. भरतबाहुबलिमहाकाव्यं—अनु० मुनि दुलहराज	" ३०.००
४. सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में—मुनि नथमल	" ५.००
५. थ्योरी ऑफ एटम इन जैन फिलासफी—जे० एस० जवेरी	" ५.००
६. श्रेणिक बिम्बिसार एण्ड कृष्णिक अजातशत्रु—मुनि नगराज	" ७.००

### —: प्राप्ति स्थान :—

आंचलिक कार्यालय

मुख्य कार्यालय

२१०, राउज एवेन्यू

लाडनूँ

नई दिल्ली-१

(राजस्थान)

प्रकाशक-मुद्रक रामस्वरूप गर्ग—कार्यालय-सचिव, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, श्याम प्रेस, लाडनूँ के लिये एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर में मुद्रित ।